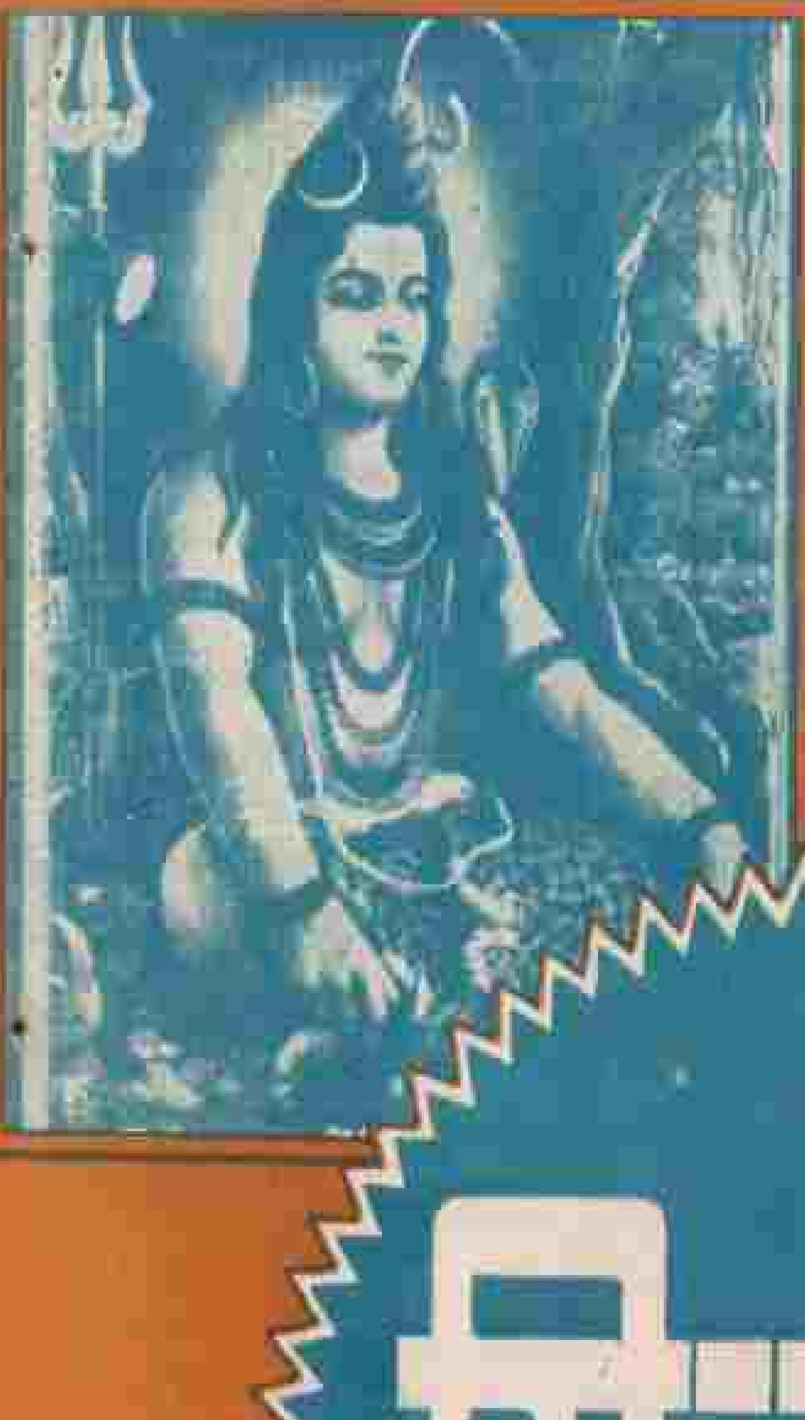

संस्थापक सम्पादक
योगयोगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहनजी महाराज

सिद्धयोग

वर्ष - १७

अंक - ५

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन संवाई आगरा

इस अंक में—

प्रकाशक

श्री सिद्धगुफा, सवाई

- अभ्यासयोगेन विना न सीधयें — १
- सिद्ध सिद्धान्त एवं सिद्ध-दर्शन का उपाय (विशेष लेख) — २
  योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज
- मन की अपार शक्ति — ६
  श्रीमती सरिता भारद्वाज
- मैं हूं तेरे सामने और तू हो मेरे सामने (कविता) — ११
  कविरत्न श्री मूलीराम लवानिया
- त्रिदेव—ब्रह्मा, विष्णु महेश — १२
  श्री पं० कृष्णकुमार पाण्डेय
- स्वास्थ्य के उपयोगी नियम — २५
- पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम् — २७
  वनवासी की झोली से
- योग-साधना का फल — २८
  श्री रामगोपाल सोनी
- जीवन तत्व साधना — ३२
  ज्योतिष-कलानिधि श्री शिवनाथ मेहरोत्रा
- सिद्धपथ-पाथेय — ३६
  श्री डा० विजयसिंह जी
- यौगिक प्रश्नोत्तरी — ३९
  पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी द्वारा
- सद्गुरु कृपा का प्रत्यक्ष प्रभाव — ४४
  श्री त्रिभुवननाथ त्रिपाठी, एम० ए०
- गीता में अवतार-निरूपण — ४६
  श्री पं० कृष्णकुमार पाण्डेय

संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'

जौलाई १९८४

वार्षिक मूल्य २५ रुपया

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवांई (एत्मादपुर) आगरा ।

वर्ष १७
अङ्क ४

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुखं च विसरतो, मुक्तिं प्राप्नोति सद्यः ।
तत्प्राप्त्यर्थम् बहुविधं योगशास्त्रोपदेशात्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः' ॥

जौलाई
१९८४

अभ्यासयोगेन विना न क्षीयते

जन्मान्तरशताभ्यस्ता मिथ्या संसारवासना ।
सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित् ॥
तस्मात्सौम्य प्रयत्नेन पौरुषेण विवेकिना ।
भोगेच्छां दूरतस्त्यक्त्वा त्रयमेव समाश्रय ॥

अर्थात्

सैकड़ों जन्मों से झूठी संसारी ममता का अभ्यास हो रहा है इसलिये बिना बहुत काल योगाभ्यास किये यह कभी नष्ट नहीं हो सकती । हे सौम्य ! इस हेतु से यत्न पुरुषार्थ (सामर्थ्य) और विचार इन तीनों ही के आश्रय होकर योग-बल से वासनाओं को दूर ही से त्याग दो ।

— शाण्डिल्य उपनिषद

हमारा विशेष लेख—

सिद्ध सिद्धान्त एवं सिद्ध-दर्शन का उपाय

योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सिद्ध सिद्धांत क्या है? और साधक सिद्धों के दर्शन किस प्रकार कर सकता है यह एकविशेष विचारणीय विषय है। वैसेतो सिद्ध सिद्धांतों से हमारे सभी यौगिक ग्रन्थ परिपूरित है। "हठयोग प्रदीपिका" "शिव संहिता" "गोरक्षपद्धति" यौगिक उपनिषदें सभी सिद्ध-सिद्धांतों से परिपूरित है फिर भी आम सभी के हितार्थ हम थोड़े से शब्दों में 'सिद्धसिद्धांत' एवं 'सिद्ध' शब्द की परिभाषा लिख देना ही ठीक समझते है 'सिद्ध' शब्द का यथार्थ अर्थ है 'कर्तुं म् अकर्तुं म् अन्यथा कर्तुं म् सर्वथा समर्थः स एव सिद्धः' अर्थात् जो किसी कार्य को कर दे, किये हुए को बिगाड़ दे फिर ज्यों का त्यों बिगड़े हुए को ठीक कर दे वही सर्वसमर्थता का ठीक प्रमाण है। ऐसे ही सर्वशक्तिसम्पन्न कर्तुं म् अकर्तुं म् सर्वथा सक्षः समर्थ वाले महापुरुषों को सिद्ध कहते है। ये लोग सब प्रकार से आत्मदर्शी होते हैं एवं सर्वशक्तियो से सम्पन्न, भूतमयों, प्रकृति पर हुकूमत करने वाले दिव्य देहधारी महापुरुष होते है। योग हमें बतलाता है—

परमाणु परम महत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः।

अर्थात् परमाणु से लेकर परम महत्तत्व या मूल प्रकृति पर्यन्त पूरा अधिकार है। उसका चित्त अभ्यास करते-करते उस स्थिति को प्राप्त कर लेता है कि फिर उसको अभ्यास की जरूरत नहीं रहती। पढ़िए व्यास भाष्य की पंक्तियां—

सूक्ष्मे निविशमानस्य परमाणवन्तं स्थितिपदं लभत इति, स्थूले निविश-मानस्य परममहत्वन्तं स्थितिपदं चित्तस्य, एवं तामुभयीं कोटिमनुधावतो योऽस्याप्रतिघातः स परो वशीकारः तद्वशीकारात्परिपूर्णं योगिनश्चित्तन पुनरभ्यासकृतं परिकर्मापेक्षत इति ॥

अर्थात् जिस समय योगी सूक्ष्म में संयम करना आरम्भ करता है वह परमाणु तक देख लेता है और जिस समय स्थूल में संयम करता है तो उस समय मूल प्रकृत पर्यन्त महत्तत्व तक पूर्णाधिकार हो जाता है। सूक्ष्म में अभ्यास करने वाले तथा स्थूल में अभ्यास

करने वाला योगी जिस समय स्थिति को प्राप्त कर लेता है वह उसका परमवशीकार कहलाता है अर्थात् उसका चित्त इतना संयमित हो जाता है कि उसको पुनः अभ्यास से संयम करने की आवश्यता नहीं रहती केवल संकल्पमात्र से उसका संयम सिद्ध रहता है। उसका चित्त बहुत ही निर्मल होता है जहाँ वह संयम करता है वहीं स्थिति को पा जाया करता है। ऐसे योगी समाधि एवं अपने संयम के बल से परम वशीकार वाले होते हैं। उनके अन्दर कर्तुम अकर्तुम अन्यथा कर्तुम की ताकत अनायास ही बनी रहा करती है और स्थान-स्थान पर जैसा कि योगदर्शन के विभूतिपाद के अन्तर्गत विभूतियों का वर्णन किया गया है, उन सभी विभूतियों को योगी अपने संयम के बल से प्राप्त कर लिया करते हैं।

ये ही लोग कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुम् की शक्ति वाले कहलाते हैं। तुलसीकृत रामायण में कागभुसुण्डि उपाख्यान मिलता है। उसमें आदि महासिद्ध भगवान शिव के कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुम् की शक्ति का पूरा परिचय मिलता है। गुरुदेव से अभिमान पूर्वक पीठ दे करके अपना भजन करने वाले कागभुसुण्डि को भगवान सदाशिव ने ८४ लाख योनि भोगने का श्राप दिया और जिस समय उसके गुरुदेव ब्राह्मण ने अपने शिष्य पर दया करने के विचार से भगवान शिव की स्तुति की, जिसको प्रायः सभी लोग जानते हैं उस स्तुति को सुन करके भगवान शिव प्रसन्न हुए और ब्राह्मण को वर मांगने की आज्ञा प्रदान किये उस ब्राह्मण ने प्रथम तो अपने हित के लिए उनकी भक्ति को माँगा और दूसरे वर के अन्दर अपने शिष्य पर अनुग्रह करने के लिए वरदान माँगा। जिसके फलस्वरूप भगवान शिव ने अपने श्राप को बहुत ही सूक्ष्म में सिमटा दिया तथा साथ ही साथ यह कह दिया कि मेरे मुख निकला वचन बिल्कुल मिथ्या तो नहीं होगा। उन योनियों में उसे जाना ही होगा और जन्म लेना पड़ेगा, किन्तु यह जब-जब जहाँ-जहाँ जिस योनि में जन्म लेगा इसको कोई दुख नहीं होगा किन्तु वे बराबर उस योनि से, भोग भोगकर जल्द निकल जायगा। इसी का नाम है कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुम्'। ठीक शब्दों अन्दर यही सिद्ध शब्द की यथार्थ परिभाषा है।

संसार में एक नियम चलता है और वह यह कि हमारा चित्त प्रज्ञा प्रवृत्ति स्थितिशील होने से त्रिगुणात्मक है। इसलिए संसार में जन्म लेने वाले व्यक्ति सभी एकमत के हों यह सम्भव नहीं हो सकता। यही कारण है कि 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' का सिद्धांत सभी जगह लागू रहता है। इसी कारणा से सारे संसार में नाना प्रकार के सिद्धांतवादी लोग हैं, किन्तु वे सभी अपनी अपनी मति के

अनुसार सिद्धांतों की स्थापना करते है। किन्तु इनके ये सिद्धांत सिद्धांत नहीं है क्योंकि वे सब अपने आप में सिद्ध नहीं है। ऋतम्भराप्रज्ञा प्राप्त योगी ही सिद्धांतों की रचना करपाते हैं। सिद्धों के सिद्धांत ही वस्तुतः मूलसिद्धांत है क्योंकि उनके वक्ता आप्तपुरुष सर्वज्ञातृत्व शक्ति से सम्पन्न होते है। हमारा शास्त्रीय सिद्धांत है—

यस्या श्रद्धेयार्थो वक्ता न दृष्टानुमितार्थः स आगमः प्लवते, मूलवक्तरि तु दृष्टानुमितार्थे निर्विप्लवः स्यात् ॥

अर्थात् जिस सिद्धांत को कहने वाले वक्ता अश्रद्धेय है एवं मनमाने सिद्धांतों की कल्पना अपने मन से करते है उनके सिद्धांत सर्वथा गिर जाया करते है, मूल वक्ता आदि महासिद्ध जो सदा प्रकर्ष गति से ही सिद्ध है उनके सभी सिद्धांत प्लवन रहित(चिरस्थायी)होते है अर्थात् उनके मुख से निकली वाणियां कभी भी असत्य नहीं होती है इन्हीं की वाणियों को सिद्ध सिद्धांत कहा जाता है, यही कारण है कि हमारे ऋषि मुनियों के मौलिक सिद्धांत, सिद्धांत है क्योंकि उनका सभी प्रकार से पर्यवेक्षण कर लेने के बाद उनमें किसीप्रकार की कमी दिखाई नहीं पड़ती। आजकल के समय में लोग अनेकों प्रकार की भविष्यवाणियां करते हैं उनमें से कोई कोई ही सत्य निकल पाती है अन्यथा प्रायः अधिकांशतः गलत निकलती है किन्तु हमारे ऋतम्भराप्रज्ञा प्राप्त ऋषि मुनियों ने जो-जो भी भविष्यवाणियां की वे सभी प्लवन रहित है। भविष्यपुराण को उठाकर पढ़िए उसमें कलिकाल के वर्णन के अन्दर निर्जीवा पृथ्वी, निरोषधी रसा, निचामहत्वंगताः मार्गासन्ती विरोधिनी परस्ताः, पुत्राःपितृद्वेषिणः आदि-आदि बातें लिखी है जो वाणियां ज्यों की त्यों सत्य हो रही है। क्योंकि इन वाणियों के वक्ता श्रद्धेय थे, सिद्ध थे एवं सर्वज्ञातृत्व शक्ति से सम्पन्न थे। सिद्धांत शब्द का अर्थ ही यह है कि जिसका अन्तिम निष्कर्ष प्लवन रहित स्थिर शुद्ध सत्य हो, वही सिद्धांत कहलाता है। अब यही बात है कि ऐसे सिद्ध सिद्धांत के वक्ता, महापुरुषों के दर्शन को मनुष्य कैसे प्राप्त करे। और किसप्रकार से उनके मौलिक सिद्धान्तों को अपने जीवन में घटित कर सकें इसके शास्त्रोक्त दो विशेष उपाय है। जिनके द्वारा मनुष्य सिद्ध दर्शन का अधिकारी बन जाता है। पहला उपाय है कि मनुष्य अपने जीवन के अन्दर पुण्य संवर्धन करे और अपनी मानसात्विकता को बढ़ाता चला जाये। पुण्य संवर्धन के लिए यज्ञदान तप कर्म, पावनानी मनीषिणा अनेक प्रकार के यज्ञ करना, दान करना, तथा तप करना मनुष्य के अन्तःकरण को पवित्र करने वाले कर्म है। इन सब कर्मो के करने से पुण्य का संग्रह बढ़ता चला जाता है। मनुष्य उत्कृष्ट तप तथा साधना करता हुआ यज्ञ, दान आदि

करता हुआ अपने को उत्कृष्ट पुण्य के खजाने से भर लेता है। पुण्य सम्वर्द्धन करता चला जाय तथा बढ़े हुए पुण्य की रक्षा भी करता चला जाय। एक मनुष्य बड़े-बड़े दान को करता है, बड़े-बड़े यज्ञ करता है तथा उत्सव-व्रतों करता है उनके फलस्वरूप उसका पुण्य बढ़ता तो चला जायगा किन्तु उसमें यदि क्रोध है, अहंकार है और साथ के साथ ईर्ष्यालु स्वभाव होने से परपीड़न के भाव बने रहते हैं तो वह अपनी बढ़ी हुई पुण्य की सिद्धि को साथ-साथ नष्ट भी करता चला जाता है। ऐसी स्थिति में वह सिद्ध-दर्शन का अधिकारी नहीं हो सकता इस विषय में हमारा शास्त्रीय लेख है—

इहसत्तु भवेद् यद् यद् तत् तत् भुक्त्वा ज्ञानी, पुनरभवेत् पश्चात् पुण्ये न लभते सिद्धेनसः संगतीय ततः सिद्धस्य कृपया योगी भवति, नान्यथा ततो नश्यती संसारो जयम् नान्यथा शिव-भाषितम् ॥

अर्थात् ज्ञानी आत्मा भी अपनी क्लिष्टा क्लिष्ट वृत्तियों के उत्थान पतनात्मक विविध प्रकार के भोगों को भोगता हुआ जब उसकी पुण्य सिद्धि बढ़ जाती है उसके फलस्वरूप सिद्धों की संगति को प्राप्त करती है, और सिद्ध संगति को प्राप्त करने के बाद वह उनकी अनुकम्पा को पाकर योगी बन जाता है तब यह संसार का बन्धन टूटता है। यही स्वयं भगवान शिव ने कहा। इसलिए निष्काम कर्म योग करता हुआ साधक विविध प्रकार के पुण्य कर्म करके अपनी पुण्य सिद्धि को बढ़ा लेता है। वह सिद्ध संगति का अधिकारी बन जाता है। उसके बाद दूसरा उपाय है —स्वाध्याय।

स्वाध्यायादिष्ट देवता सम्प्रयोगः ॥
सा. पा. ४४ ॥

देवाः, ऋषयः, सिद्धाश्चस्वाध्यायशील-दर्शनमागच्छन्ति, कार्ये चास्य वर्तन्तइति ॥
४४ ॥

अर्थात् स्वाध्यायके बलसे साधक इष्टदेवकी कृपाका लाभ करता है और उसी स्वाध्याय के प्रभाव से मन्त्रद्रष्टा ऋषि लोग, देव लोग और सिद्धों के दर्शन प्राप्त होते हैं। यज्ञ, दान, तप आदि पुण्य कर्मों का करना हर व्यक्ति के लिए सुलभ साधन नहीं है क्योंकि यज्ञ, दान आदि अर्थाभाव से सभी लोग नहीं कर सकते किन्तु स्वाध्याय आदि यदि कोई दृढ़ लगन से करना चाहता है तो वह कर भी सकता है अनुभवी सन्तों का अनुभव है जो पवित्र भागीरथी के तट पर बैठकरके अपने इष्ट के मन्त्रों का जाप करते रहते हैं। उन्हीं के स्तोत्र आदि का पाठ करते रहते हैं उसका परिणाम यह निकलता है कि वे लोग सिद्धों के दर्शन को पा जाया करते हैं एवं सिद्ध सिद्धान्त के अनुसार सिद्धों

मन की अपार शक्ति

—श्रीमती सरिता भारद्वाज एम. ए. बी. एड. सांख्य योगाचार्य

बिखरा हुआ मन दीन-हीन दूसरे की कृपा का भिखारी बना रहता है और वही मन यदि एक जगह योग-ध्यान-विधि से इकट्ठा कर लिया जाय तो उसके अन्दर बड़ी-बड़ी विलक्षण ताकतें दिखाई पड़ने लगती हैं जिन्हें हम लोग संकल्प-शक्ति (Will power) अतीन्द्रिय-शक्ति तथा ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ आदि-आदि नाम दे दिया करते हैं। यह बात इसी तरह है कि जिस तरह वर्षा का पानी तालाबों झरनों और नदियों में बहकर व्यर्थ नष्ट हो जाता है उससे अधिक भला नहीं हो पाता, यदि उसी जल को किसी बड़े जलाशय में इकट्ठा कर लिया जाय तो उस पर बड़े-बड़े बाँध बनाकर उससे प्रकाश को पैदा करने वाली विद्युत और मरुत प्रदेश को हरा-भरा करने वाली विशाल नहरों का निर्माण करके उस जल को अनन्त शक्ति के स्रोत के रूप में बदला जा सकता है। इस क्रिया के लिए जिस प्रकार इंजिनियर्स की आवश्यकता पड़ती है उसी प्रकार मन को इकट्ठा कर उस पर बाँध बना कर उससे अलौकिक कार्य करने के लिए सर्व समर्थ की सद्गुरु की आवश्यकता है।

मन एक यन्त्र की तरह कार्य करता है। वह जिसके साथ हो जाता है उसकी पूरी-पूरी सहायता करता है और उसका सारा कार्य आनन-फानन में संपादित कर दिया करता है। यदि वह नेत्रेन्द्रिय का साथी बनता है तो उसके सामने आने वाले सुन्दर रूपों में विशेष रस और भाव उत्पन्न करके उसे हमेशा रूप का गुलाम बना देता है। यदि वह रसना-इन्द्रिय का साथी बन जाता है तो कोई भी पदार्थ उपस्थित होने पर उसके अन्दर स्वाद की सृष्टि (रचना) कर देता है और लोलुप बना देता है कि व्यक्ति अपना अहित जानकर भी अनाप-शनाप खाद्य-अखाद्य खाने से बाज

(पिछले पृष्ठ का शेष)

का दर्शन अमोघ होता है उसके फलस्वरूप साधक उनकी कृपा को पाकर अपने आपको कृतार्थ बना लेता है। उनके शक्तिपात से उस साधक को सहज ही समाधि प्राप्त हो जाती है अतः इस लेख के विषय को समझ करके एवं सिद्ध की परिभाषा एवं सिद्धान्त की परिभाषा जानकरके अपने आपको अध्यात्म-मार्ग में बढ़ाने का प्रयत्न करें। ऐसा करने पर उस अनुग्रह को पाकर अपने आपको कृतकृत्य बना लेगा।

—x—

नहीं आता। मन जब इन्द्रियों का साथी बनता है तो इन्द्रियों का गुलाम बना देता है वही मन यदि गुरु-कृपा पाकर उलट जाय तो वह तुलसी जैसे कामी व्यक्ति को महान संत बना दिया करता है। मन के उलटने में ही उसकी शक्ति का विस्फोट होता है। मन उलटने पर ही वह बुद्धि, चित्त और अहंकार का साथी बन पाता है और साथी बनकर व्यक्ति को सद्विचार, सदाचार, सत्संग, जप, ध्यान, पूजा आदि में ऐसा प्रवृत्त करता है कि उसको इन्द्रियों के विषयों में नीरसता और फीकापन आने लगता है तथा पारमार्थिक जीवन में उसे अधिक स्वाद आने लगता है। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है—

'सुमति क्षुधा बाढ़हि नित नई,'

इस अर्द्धाली में उस स्थिति का संकेत किया है। सन्तों ने इस मन की उल्टी हुई स्थिति को 'उल्टी रहनि' 'उलट-बाँसी' 'उन्मनी-अवस्था' 'उन्मनी-रहनि 'पलट-पद्धति' आदि आदि रहस्यमय नामों से संकेतित किया है। जब मन उलट जाता है तो वह—

'कामहि नारि पियारि जिमि,
लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर,
प्रिय लागहु मोहि राम॥'

अर्थात् जैसे विषयासक्त मन विषय का चिन्तन, मनन और उसे प्राप्त करने की चेष्टा करता है उसी प्रकार उल्टा हुआ मन उसी तीव्रता के साथ अपार आनन्द और शक्ति से समन्वित हो जाता है फिर इन्द्रियों और और विषयों के आकर्षण उसके लिए उसी प्रकार रसहीन हो जाते हैं जिस प्रकार किसी माँ का बालक चल बसा हो तो उस समय उसको अलंकार आनन्द देने के स्थान पर दुखदायी प्रतीत हुआ करते हैं। सांसारिक नश्वर विषयों में फँसकर सांसारिक नाशवान गुण-धर्मों का प्रभाव मन पर भी होता है। उसकी शक्ति भी नष्ट होती रहती है जब वह मन शक्ति के क्षरण होने वाले स्रोत से जुड़ता है बाहर शक्ति के क्षरण होने वाले स्रोतों को मन नियम और प्रत्याहार द्वारा उसी प्रकार बन्द कर लेता है जैसे कछुआ अपने अंगों को चारों ओर से समेट कर अपने में केन्द्रित कर लेता है इससे व्यक्ति अकुतोभय होकर आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन-मात्र बनने की अपेक्षा अनन्त सम्भावनाओं और सामर्थ्य का भण्डार बन जाता है। उसकी एकाग्रता बगुले से भी अधिक हो जाती है और उसकी बुद्धि यथार्थ ज्ञान करने में सक्षम होने लगती है। भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को मन को एकाग्र करने का उपदेश देते हुए समझाया है कि प्रत्येक इन्द्रिय को अलग-अलग वश में करना बड़ा मुश्किल है। यदि इन्द्रियों के स्वामी (मन)—'इन्द्रियाणां मनोनाथः' को वश में कर लिया

आप तो इन्द्रियाँ बेचारी उस प्रकार वश में हो जाती हैं जिस प्रकार रानी मक्खी के पीछे और सारी मक्खियाँ चल पड़ती हैं। बेल को यदि पानी दिया जाय तो पत्ते हरे-भरे हो हो जाते हैं और यदि मूल को काट दिया जाय तो वह कटते ही पत्ते सूख जाते हैं उसी प्रकार मन की लगाम सवार को सौंपते ही इन्द्रियों का विषय-सम्बन्ध कट जाता है और वह बाहर की ओर न देखकर अन्दर की ओर देखने लगता है। इसी को अन्तर्मुखी स्थिति का विकास कहा गया है।

महाभारत में और श्रीमद्भागवत में भी एक बाण बनाने वाले का उपाख्यान आता है—

एक बाण बनाने वाला अपने बाण बनाने के कार्य में इतना दत्तचित्त था कि उसे देश और काल दोनों का ही बोध नहीं रहा। उधर से कई हजार घुड़सवार सिपाही निकल गये किन्तु उसका मन अपने काम में इतना एकरस था कि उसे बाहर जाने वाले घुड़सवारों का और सेना के कूच करने का दृश्य दिखाई नहीं दिया। जब उस राजा के चरों ने पूछा कि यहाँ से सेना गये कितना समय हो गया है तो उसने अपनी अनभिज्ञता प्रकट करते हुए कहा कि मुझे तो किसी सेना का पता नहीं। न मैंने इनकी पद-चाप सुनी है और न मैंने जाते हुए देखा है। मैं यहाँ बहुत समय से अपना कार्य कर रहा हूँ, कहीं भी नहीं गया। अतः ऐसा भी नहीं कि मेरे पीछे कोई सेना निकली हो। क्या वह झूठ बोला? नहीं उसका मन सब ओर बिखरा हुआ नहीं था बल्कि एक लक्ष्य में केन्द्रित था और उससे भिन्न किसी स्थिति का बोध नहीं हो रहा था। दुनियादारी के व्यवहार के लिए ऐसे लोगों को कोई पागल भले ही कहे पर ऐसे लोग ही सत्य का अन्वेषण करने में समर्थ हुए हैं। महान वैज्ञानिक आइन्सटीन के जीवन का भी एक ऐसा ही प्रसंग है। एक बार वे रेल में यात्रा कर रहे थे। तभी टिकट चैक करने वाला व्यक्ति आया और उसने सभी को अपना-अपना टिकट दिखाने को कहा। आइन्सटीन अपने किसी खोज के विचार में खोये हुए थे। उन्होंने टिकट चैक करने वाले की बात को सुनी-अनसुनी कर दिया। इस पर टिकट चैकर ने टिकट दिखाने को पुनः कहा। टिकट चैकर की कठोर आवेश पूर्ण आवाज को सुनकर आइन्सटीन उसकी ओर मुखातिब होकर अपनी जेबों में टिकट देखने लगे। उनको परेशान देखकर टिकट चैकर ने उनसे कहा—"मैं आपको जानता हूँ। आप इस देश के महान वैज्ञानिक आइन्सटीन हैं। आपके पास टिकिट अवश्य होगी। आप निकालने का कष्ट न करें।" आइन्सटीन ने जबाब दिया—"मुझे टिकिट ढूँढ लेने दिजिए। नहीं तो मुझे यह पता नहीं चलेगा कि मुझे किस स्टेशन पर उतरना है।"

जिनका मन पलट जाता है उनके बाह्य व्यवहार कुछ अटपटे भले ही लगें पर वे शक्ति के खजाने को पा जाया करते हैं और दुनिया फिर इन्हीं लोगों के पीछे पड़ जाती है। जिन्होंने मन को इकट्ठा कर लिया है और बाहर के खर्च करने वाले रास्तों पर बांध में बांध दिया है ऐसे लोगों को ही सिद्ध, सन्त, योगी, फकीर आदि-आदि नाम और रूपों में देखा जाता है। जिसने मन को जितनी मात्रा बांध दिया है वह उतनी ही सीमा तक पहुँचा हुआ और शक्ति वाला सन्त और योगी बन गया है।

सन्त दादू, पलटू, रज्जब, रैदास आदि ने अपने लोक-भाषा के उपदेशों में साधकों को 'मन मुख' से हटकर 'गुरु-मुख बनने का उपदेश दिया है। मन-मुख का अर्थ है कि मन, रूप, रस, गंध, स्पर्श शब्द के पीछे भौंरे की तरह यदि घूमता रहेगा तो इन्द्रियों के विषय उसको 'भोगान भुक्ताः वयमेवभुक्ताः' की कहावत के अनुसार उसे निरीह और निर्बल बना देंगे। इसलिए सन्तों ने अपनी सधुक्कड़ी भाषा में बार-बार यह कहा--

"मन के मते न चालिए,
मन के मते अनेक।
जो मन पर असवार है,
वह साधू कोई एक॥"

यह मन का इन्द्रिय विषयों के साथ एकात्म भाव 'मन-मुख' होना है और जब सत्संग और सद्गुरु की कृपा से मन इन्द्रियों से हटकर चित्त, बुद्धि और अहंकार के माध्यम से आत्म ज्योति के साथ जुड़ जाता है तब उस स्थिति को गुरु-मुख होना कहते हैं क्योंकि जो अविनाशी, निर्विकार, शाश्वत तत्व है वही सद्-गुरु-तत्व है। उसके साथ जुड़ने पर साधक मनजवित्व, विकरणभाव आदि सामर्थ्यों से युक्त हो जाता है अर्थात्—

'बिनु पग चले सुनें बिनु काना,
कर बिनु कर्म करै विधि नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी,
बिनु वाणी वक्ता बड़ योगी॥'

इस स्थिति को पाकर मन से ही सारी इन्द्रियों का कार्य कर लिया करता है। विशेष पुण्य कर्मों के फलस्वरूप स्वर्ग लोक को पाकर साधक में यही स्थिति हो जाती है। देवताओं में कर्मेन्द्रियाँ नहीं होती। वे मन की संकल्प शक्ति से ही ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों का देखना, खाना, सूँघना, सुनना आदि-आदि कार्य कर लिया करते है। उपनिषदों में— 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इस मंत्र में यह कहा गया है कि मन से उस परात्पर सत्ता को देखना चाहिए और मन ही मनुष्य के बंध और मोक्ष का कारण है। आदि गुरु शंकराचार्य से किसी ने प्रश्न किया कि संसार को कैसे वश में किया जा सकता है तो उन्होंने उत्तर दिया—जिसने

अपने मनको इकट्ठा करलिया अर्थात् जीत लिया है वही संसार को जीत सकता है।'

"जगत् जितम् येन, मनोजितम् येन।"
संसार मन की ही तो सृष्टि है जैसे सोने के बाद आँख कान आदि इन्द्रियों का बाहरी शब्द और रूप से सम्बन्ध कट जाता है किन्तु फिर भी मन के संकल्प-विकल्प से स्वप्न लोक में नये-नये दृश्य, घटनाएं और लोक बन जाते हैं जिनमें यह जीव सुख-दुख का कर्ता और भोक्ता प्रतीत होता है किन्तु जागने पर उसकी असलियत की कलई खुल जाती है इसी तरह जागृतावस्था में प्रतीत होने वाला यह संसार काम, क्रोध, मोह, लोभ और अहंकार के नाते रिश्तों का ताना-बाना और विस्तार है। जैसे मन के जागृत अवस्था से स्वप्न में जाने पर जैसे जागृत अस्तित्वहीन हो गया था उसी तरह जागृत से मन जब नित्य, चेतन में जुड़ जाता है तो यह जागृत अवस्था का जगत पराजित (अस्तित्व-हीन) हो जाता है। यही संसार का जीतना है। शास्त्रकार इसी बात को तरह-तरह की शब्दावली में कहते हैं—संसार स्वप्नवत् मिथ्या है। मन ऐसा विलक्षण है कि अस्तित्वहीन अस्तित्वमय बना दे और जिसका अस्तित्व है उसे अस्तित्वहीन बना दे। जिसमें मन लग जाय वहीं रस आने लगे। वही सगा, सच्चा प्रिय और अपना प्राणप्यारा बन जाय। मन जिसको छोड़ दे वही शत्रु, पराया, दुखदायी बन जाता है। मन क्षण में हजारों, लाखों मील जा सकता है वहाँ की चीजें देख सकता और जिसको अपना मान ले उसको दूर बैठे ही मदद करना चाहे तो अपनी संकल्प शक्ति से वस्तु और व्यक्ति के रूप में बदल कर हजारों मील से ही मदद कर दिया करता है। जिनका मन अपने गुरुदेव और इष्टदेव के चरण-कमलों में इकट्ठा होने लगता है उनके मन के अन्दर ऐसी ताकतें स्वाभाविक रूप से आ जाया करती है। मन की गति को जो पहचान लेता है वह उसको आसानी से बाँध सकता है। मन के बाँधते ही व्यक्ति के जीवन में निर्भयता आ जाती है। हमें व्यक्तियों, स्थानों, परिस्थितियों और स्थितियों से भय लगता है। अगर असावधानी से से देखा जाय तो भय का कारण मन ही है। मन जब एक जगह नहीं टिकता तो वह घड़ी के पेंडुलम की तरह आगे-पीछे चलता रहता है। भय का कारण भूत या भविष्य होता है। धनी व्यक्ति सब कुछ साधन होते हुए भी इस बात से भयभीत है कि भविष्य में कहीं यह साधन उससे दूर न हो जायें। अथवा बीते हुए समय में उसके साथ ऐसा बहुत कुछ होता रहा है। यहाँ मन, बीते हुए समय और देश में चला गया या भविष्य के देश और समय में मौत का भय भी बहुत कुछ मन की इसी तरह की स्थिति का परिणाम

है। यदि वर्तमान देश-काल में स्थित हो जाना सीख या इतना बड़ा बन जाय कि भूत और और भविष्य भी उसे एक साथ स्थिति प्राप्त हो अर्थात् भूत और भविष्य उसके लिए वर्तमान हो जायें तो वह त्रिकालदर्शी मुक्त और चिन्ता-मुक्त सामर्थ्यवान बन जाता है हमारे ऋषियों ने यह मन का विज्ञान खोज निकाला था। आज हम उसको भूलकर घर-घर का भिखारी बने हुए हैं। इस मन की एकाग्रता की स्थिति को महर्षि पतञ्जलि ने योग का बीज माना है। जब तक मन की एकाग्रता नहीं है तब तक आसन प्राणायाम बन्ध मुद्राओं से भी कुछ नहीं होगा। इन क्रियाओं से जो शक्ति मिलेगी वह बिगड़ हुआ मन मूल के साथ-साथ नष्ट कर देगा। फिर ऐसे आजकल दिखाई पड़ने वाले योगियों की ऐसी हालत होती है जैसे कि किसी की आमदनी ५००/रुपया हो और उसका खर्च ७००/रुपये हो जाय तो क्या वह सुखी रह सकता है? उसकी हर समय चाह और हाय-हाय बनी रहेगी। जब तक चाह अर्थात् संकल्प-विकल्प अर्थात् मन का आगे-पीछे जाना अर्थात् एक जगह स्थिर न होना चलता रहेगा चाह करना संकल्प-विकल्प को रोकना या मन के पीछे न दौड़ना सबका एक ही अभिप्राय है। कोई ऐसा भाग्यवान साधक हो जाय कि अपने इष्ट में हर समय मन लगाकर रखे और उससे बदले में कुछ न चाहे न कुछ फरमाइश करे तो उसका मन शक्ति के खजाने से भरपूर हो जायगा उसी को निष्काम कर्म कहते हैं।

—×—

मैं हूँ तेरे सामने औ तू हो मेरे सामने

भूल जाऊँ, धन-परिवार, मित्र-शत्रुओं को,
भूल जाऊँ, भावी स्वप्न-सरस-सुहावने।
भूल जाऊँ, पद-मान-स्वाभिमान के सन्देशे,
भूलूँ, भुक्ति-मुक्ति के विचार मन-भावने।
भूल जाऊँ, अपना-पराया माया-मोह सब,
भूल जाऊँ गीत, धर्म-कर्म के लुभावने।
मन-वाणी-कर्म से, पुकारा करूँ तेरा नाम,
मैं हूँ तेरे सामने औ तू हो मेरे सामने।

— कविरत्न श्री सुखीराम लबानिया

त्रिदेव--ब्रह्मा, विष्णु महेश--

श्री पं० कृष्णकुमार पाण्डेय एम० ए० हिन्दी

देवताओं में सर्वोपरि तीन देव अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु महेश हैं। जैसे सारे देव उस परात्पर की अनन्य शक्तियाँ हैं इसी प्रकार ये तीनों भी उसी परात्पर ब्रह्म की प्रमुख शक्तियाँ हैं। इनमें और उस परात्पर ब्रह्म में कोई विशेष भेद नहीं है इसी लिए इन्हें भी भगवान कहा जाता है। ये त्रिदेव अन्य देवों की अपेक्षा उस परात्पर के अधिक समीप हैं। जिससे इनमे भागवत्ता (ऐश्वर्य) का भाव अधिक रहता है। ये सभी देव उस परात्पर की इच्छा से सृष्टि का नियमन संचालन करते हैं। एक तरह से ये परमब्रह्म के तीन स्वरूप हैं। क्यों कि जगत का सृजनकारी तत्व ब्रह्मा ही है, पालन पोषण और धारण करने वाला ब्रह्म ही विष्णु का रूप है तथा संहार कर्ता ब्रह्म ही महेश है। वास्तव में संहार के आधार स्वरूप विष्णु ही सृजन और संहार को सम्भव बनाये रखते हैं। सृजन और संहार जिस सत्ता के आधार पर होता है उसका विशेष महत्व होता है। क्यों कि कर्म किसी आधार पर ही सम्भव होता है। विष्णु एक ओर ब्रह्मा और शिव के सृजन और संहार कर्म के लिए आधार देने वाली मुख्य सत्ता है, तथा स्वयं दूसरी ओर सक्रिय होकर सृजन संहार के बीच का कार्य सृष्टि का पालन पोषण भी करते हैं। इस लिए उनका कर्म द्विविध है। आधार रूप में यह ब्रह्मा और शिव से श्रेष्ठ हैं। इसी लिए श्रेष्ठ माने जाते हैं। किन्तु पालन, पोषक रूप में (इनको ब्रह्मा विष्णु) समकक्ष है।

इसी से विष्णु को ब्रह्मा और शिव की अपेक्षा अधिक निकट समझा जाता है। ब्रह्मा विष्णु और शिव को अपने-अपने कर्म से एक क्षण का विश्राम नहीं है। ब्रह्म का 'अवतार' जब भी होता है तो वह विष्णु के स्तर से होकर ही सम्भव है, क्योंकि विश्व का भरण पोषण उसी का काम है और अवतार इसी कर्म पर संकट पड़ने पर ही होता है।

जब जब होय धर्म की हानि।
ले अवतार तभी भगवान।।

इस लक्षणा से विष्णु का अवतार भी इसी संदर्भ में कह दिया जाता है। इन शब्दों के कारण कभी-कभी लोगों को भ्रम हो जाता है कि राम विष्णु के अवतार थे या ब्रह्म के। पर ऐसा भ्रम नहीं होना चाहिए। राम चरित मानस में ऐसे अनेक स्थल है, जहां राम को विष्णु रूप में रमा निवास राम रमापति आदि

विष्णु वाचक शब्दों से सम्बोधित किया गया है।

परन्तु ये दोनों देवता माया शक्ति (आदि-शक्ति) की सृष्टि है, परमब्रह्म तो सृष्टि का आदि कारण है। महा शक्ति (माया) उसकी अन्तरंग शक्ति है पर ये देवता (ब्रह्मा, विष्णु शिव) उस काल में व्यक्त होते हैं जब यह आदि शक्ति ब्रह्म की आत्म अभिव्यक्ति के लिए अर्थात सृजन के लिए आन्दोलित हो उठती है। यही कारण है कि ये देव उस पुरा-शक्ति के नियन्त्रण में रहते है। इनकी शक्तियां उसी की इच्छा शक्ति से उत्पन्न है। ब्रह्म अपनी इच्छा से इन देवों को व्यक्त करता है। रामकी परीक्षा लेने सती जी जब सीता वेश में गयी थीं तब राम ने कहा था कि—

"निज प्रभाव कछु प्रगटि दिखावा"

सती जी की दशा का वर्णन करते हुऐ सन्त शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जी लिखते है—

जहँ चितवहिं तहँ प्रभु आसीना,
सेवहिं सिद्ध मुनीस प्रबीना ॥
देखे सिव बिधि विष्णु अनेका,
अमित प्रभाउ एकतेएका ॥
बन्दत चरन करत प्रभु सेवा,
विविध वेष देखे सब देवा ॥
(बाल काण्ड)

इसी प्रकार काकभुशुण्डि जी ने राम के उदर में(माया के भीतर) जो दृश्य जगत देखा उसको बताते हुए गरुड़ जी से कहते है—

उदर माझ सुनु अण्डज राया।
देखेउँ बहु ब्रह्माण्ड निकाया ॥
लोक-लोक प्रति भिन्न बिधाता।
भिन्न विष्णु सिव मनु दिसित्राता ॥
(रामचरित मानस उत्तरकाण्ड)

तुलसीदास जी ने कई प्रसंगों में इस तथ्य को उजागर किया है कि ब्रह्म (राम) 'विधि हरि शंभु नचावनि हारे' है। गरुड़ का मोह देखकर ब्रह्मा ने मन में सोचा कि—

हरि माया कर अमित प्रभावा।
विपुल बार जेहिं मोहि नचावा ॥

तुलसीदास जी कहते है कि—

"भव बिरंचिकहु मोहइ कोहि बपुरा आन"।

माया की प्रबलता का उल्लेख करते हुए भुशुण्डि जी ने गरुड़ जी को बताया कि—

सिव चतुरानन जाहि डराहीं।
अपर जीव केहि लेखे माहीं ॥

कुछ लोग ऐसे स्थलों पर तुलसीदास जी की उक्तियों को देखकर पढ़कर यह देखकर कि उन्होंने राम को—

'विधि हरि सम्भु नचावनि हारे'।

कहकर सराहना मात्र की है, यह तथ्य

भाव शुद्धि से महाभाव

आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा, रीडर
श्री लालबहादुर शास्त्री विद्यालय-दिल्ली

सत्कर्म, जीव को बन्धन में डालते हैं। कर्म के मूल में इच्छा, आशा, वासना या स्पृहा होती है जिससे उद्वेलित होकर जो हलचल—सर्ग-प्रतिसर्ग या उत्सर्ग होती है वही कर्म का रूप लेकर मनुष्य को उसके विधि-निषेध में इस तरह जकड़ लेती है कि व्यक्ति इधर से उधर मारा-मारा फिरता है और जाल में फंसे मृग की तरह 'ज्यों-ज्यों सुरझि भज्यो चहत त्यों-त्यों उरझत जाय' की स्थिति को प्राप्त होता चला जाता है। इस कर्मचक्र का विस्तार अण्ड से ब्रह्माण्ड तक नाना प्रकार की जातियों, भोग-साधनों तथा कालखण्ड में पाया जाता है। जब तक कर्म का चक्र रहता है तब तक भ्रम और संशय से भी छुटकारा नहीं मिलता। निष्काम कर्म की साधना करते करते संशय और भ्रम का निराकरण होने पर पुरुष और प्रकृति की गाँठ-जिसे जड़-चेतन ग्रन्थि या अविद्या का आवरण कहा जाता है खुल जाती है।

ज्ञानालोक होने पर सारे कर्म और बुद्धि के विकार समूल नष्ट हो जाते हैं। निष्काम कर्म की साधना का आरम्भ उस क्षण होता है जब सारे कर्मों का फल भोगने की इच्छा समाप्त कर दी जाती है अथवा कर्त्तापन का अभिमान निःशेष हो जाता है। इसके लिए ईश्वर प्रणिधान का मार्ग है। ईश्वर प्रणिधान का तात्पर्य है कि सारे कर्मों का अधिष्ठान मात्र ईश्वर को समझकर उसी के चरणों में कर्म तथा उसका फल समर्पित कर अकर्त्ता तथा अभोक्ता (द्रष्टा) बन जाना। कर्म की निवृत्ति तथा अकर्त्ता पाने की स्थिति भाव-जगत में अधिष्ठित होने से होती है। कर्म के द्वारा ईश्वर प्रणिधान असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। भाव जगत में प्रवेश करने

(पिछले पृष्ठ का शेष)

नहीं है। ऐसे लोग यह भूल जाते हैं कि तुलसी के अनुसार वेदान्त के अनुसार और गीता के अनुसार परमब्रह्म (उत्तम पुरुष) का ही अवतार होता है, और परम ब्रह्म की नियन्त्रणकारी शक्तियां हैं—ब्रह्मा, विष्णु महेश।

पता—
B–२० सूरज कुण्ड कालोनी
गोरखपुर

पर भव सिन्धु गोखुर में समा सकता है। भावों की शृंखला ही जगतपति से जोड़ने वाली है। गोस्वामी तुलसीदास ने इसी सिद्धान्त की पुष्टि के लिए सिद्धान्त वाक्य का उपदेश दिया है—

सेवक सेव्य भाव बिनु,
भव न तरिय उरगारि।
भजहु राम पद पंकज,
अस सिद्धान्त बिचारि॥

अपने हृदय में रहने वाले प्राणों के भी प्राण, वाणी को भी वाणी देने वाले परम प्रिय प्रभु से नाता जोड़ने के लिए सेवक और स्वामी भाव से जो नाता होता है उसी से भाव भूमि में स्थित होकर प्राणी स्वामी की करुणा कृपा का स्मरण कर हर समय चिन्ता रहित होकर आनन्दमग्न रहा करता है। यदि अपने प्रियतम को पाना है तो नाना प्रकार के वेश बदलने, ज्ञान-वैभव तथा जाति कुल अभिमान से उसे त्रिकाल में भी नहीं पाया जा सकता। उसे तो भाव के बन्दरकैद किया जाता है। जिसका जितना गहरा और सच्चा भाव होता है उसके लिए वह उतना ही सच्चा और नजदीक हो जाता है। वैसे तो वह मन वाणी से अगम अगोचर है किन्तु भाव से वह सगुण साकार और प्रत्यक्ष गोचर होकर गुरु, मात, पिता, बन्धु तथा दाता बन जाता है। सन्त शिरोमणि तुलसी का अपने प्रभु के लिए सेवक सेव्य भाव तो है ही कभी-कभी दाता और भिखारी, जीव और ब्रह्म पातकी और पतित उधारन आदि के भी उन के अनेक भाव हैं। अथवा यह समझना चाहिए कि संसार में जो भी नाते रिश्ते देखे और सुने जाते हैं वे सब अपने आराध्य में ही सन्निविष्ट हैं—

तोहि मोहि नाते हैं अनेक,
मानिये जो भावै।

श्रीमद्भगवद्गीता में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।

इस श्लोक में किया गया है। अपने प्राणों के भी प्राण सर्व शक्तिमान आनन्द कन्द प्रभु की शरण सभी भावों से जाने पर जीव कर्तापन के अभिमान तथा कर्मफल भोग रूप सुख-दुःख के चक्र से मुक्त हो सकता है। तुलसी इसीलिए सलाह देते हैं कि—ममता मद और अभिमान त्याग कर सर्वव्यापक सीताराम की आनन्दमयी विभूति की करुणा कृपा प्राप्त करने के लिए अपने भाव शुद्ध करो। क्योंकि वह न विद्या से वश में किया जा सकता है और न धर्म, धन, जाति वेश, जपतप आदि कर्मों से, वह भाव के वश में हो जाता है। कहा है कि—

भाववश्य भगवान,
सुख निधान करुणायतन।

तजि ममता मद मान,
सेइय सदा सीतारमण ॥

चराचर में कोई ऐसी वस्तु नहीं जो चेतन स्वयं प्रकाशक सत्ता से खाली हो, तथापि जहां भाव होता है वहीं वह सगुण होकर गिरधारी, घनश्याम, राम, शिव, और महामाया दुर्गा बन भक्तों के भावानुसार प्रकट होती है। सन्त शिरोमणि तुलसी ने रामचरित मानस में रुद्राष्टक में भूतभावन भगवान शंकर की स्तुति करते हुए जिन विशेषणों का प्रयोग किया है वे बहुत सार्थक हैं। देखिये—

त्रयी शूल निर्मूलनं
शूल पाणिम् ।
भजेऽहं भवानी पतिं
भाव गम्यम् ॥

तीनों तापों को दूर निकाल फेंकने वाले उमापति महादेव को मैं शरणापन्न होता हूं। जो वैसे तो दिखाई नहीं पड़ते। हां! भावमग्न होकर जो उनका भजन ध्यान, जप आदि करता है उसके लिये भूतभावन भूतेश सर्वसमर्थ होकर ऋद्धि-सिद्धि के दाता बन जाते हैं और वह प्रत्यक्ष अनुभव करता है कि भगवान शंकर 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं' में पूर्ण समर्थ है। उनकी कृपा से योग ज्ञान वैराग्य का खजाना सहज मिल जाता है।

प्रभु समरथ सर्वज्ञ शिव
सकल कला गुण धाम ।
योग ज्ञान वैराग्य निधि,
प्रणत कल्पतरु नाम ॥

जो भाव विभोर होकर प्रभु के नाम का जप करता है उसे साधक के भाव के अनुसार भगवान शंकर फल अवश्य देते हैं। योगदर्शन में भगवान पतंजलि जप के प्रसंग में जप के साथ साथ भावना व्यापार का उल्लेख करते हैं—

तज्जपस्तदर्थ भावनम् ।'

मंत्र का जप करने तथा मंत्रार्थ की भावना करने, अपने अन्तःकरण में अनुभूति को अवधारणा करने से मंत्रजप का यह फल होता है कि योगी को साक्षात् अपरोक्ष चैतन्य का दर्शन हो जाता है जिससे योगी के मार्ग के सारे अन्तराय निवृत्त हो जाया करते हैं। जैसा कि योग-दर्शन में कहा है—

ततः प्रत्यक् चेतना-
धिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।

भाव से भक्ति का द्वार खुलता है तथा प्रभु कृपा को अभिमुख करने का साधन भाव ही है। जिसके मन में दृढ़ विश्वास हो गया है अपने इष्ट में तथा जो अपने आराध्य को छोड़कर और कुछ नहीं चाहता उसके लिए विश्वनाथ को निर्गुण से सगुण, अकर्त्ता से कर्त्ता, द्रष्टा से भोक्ता बन जाना पड़ता है। ऐसे भक्त की भगवान हर क्षण रखवाली किया करते हैं।

सकल विघ्न नहिं जितवहिं तेही ।
राम कृपा करि विलोकहिं जेही ॥

संसार में हर वस्तु भाव से ही मिलती है। कहा जाता है कि हर चीज का भाव है। भाव मनुष्य की जरूरत और वस्तु की उपलब्धि दोनों के संयोग से बनता है। जो वस्तु आसानी से मिल जाय उससे जरूरत चाहे पूरी हो जाय परन्तु सुख और सन्तोष नहीं हो पाता। भाव जितना ऊँचा होता है और ऊँचे दाम देकर यदि कोई वस्तु प्राप्त की जाती है तो मँहगा सौदा बड़ा प्यारा लगा करता है। सस्ते भाव का उतना आदर भी नहीं इसीलिए ईश्वर ने अपनी कृपा को सर्वसुलभ नहीं रखा। जब बन्दा अपना सर्वस्व दाँव पर लगा देता है तो तब उस परमब्रह्म का सौदा हो पाता है। जब तक भाव नहीं बनता तब तक वस्तु होते हुए भी सौदा नहीं हो पाता। जहाँ भाव तय हुआ कि सौदा होने में देर नहीं लगती।

मेरे दिल में तस्वीरे यार है।
जब जरा, गर्दन झुकाई देख ली।

× × × × ×

फिर ऐसा सौदा हो जाता है कि वस्तु के साथ वस्तु बेचने वाला भी बिकने को बिना मोल के भी तैयार हो जाता है। एकबार बन्दा बाजार तो जाकर देखे। बाजार में खरीदने की नीयत से जाने पर ही उसे वस्तु मिलेगी। जब हम कुछ देने को तैयार होते हैं तभी हमें उस देने के बदले दुकानदार कुछ चीज देता है। यदि कोई बाजार में जाकर केवल भाव-ताव ही करता रहे तो क्या कुछ खरीद पायेगा। हमारी इच्छा कोरा भावताव है और साधना, समर्पण, स्वाध्याय कुछ देने वाली पूँजी है। साधना सम्पत्ति से भाव हो जाता है और सौदा मिल जाता है। जिसके पास कोई साधन-सम्पत्ति न हो तो क्या उसे सौदा नहीं मिलेगा? मिलेगा लेकिन बिना अर्थ का सौदा मिलेगा। कभी-कभी कृपा से दान भी तो मिल जाता है। वह विश्वम्भर इतना दयालु है कि उसकी दुकान पर कोई पहुँच भर जाय तो उसे वह खाली नहीं जाने देता। कुछ न कुछ उसे जरूर दे देता है। जिनके पास साधन-सम्पत्ति है उन्हें तो अपने साधन के अनुसार ही सौदा मिलता है किन्तु उसकी दुकान पर कोई अबोध बालक पहुँचकर वस्तु की इच्छाभर कर दे तो वह दुकानदार इतना दयालु भी है कि बालक से कुछ दाम भी नहीं चाहता। ध्रुव प्रह्लाद जैसा बालक हो तो वह विश्वम्भर भगवान से कहता है—

वैसे तो मेरी कीमत ऐसा है
कोई दे नहीं सकता।
अगर कोई खरीददार हो तो
मैं मुफ्त भी बिक जाता हूँ।

शर्त का सौदा सदा मँहगा पड़ता है।

जब कोई संसार के नश्वर पदार्थ—धन सम्पत्ति पुत्र कलत्र आदि न माँगकर उस दुकानदार रूपी सर्वेश्वर की ही चाह और भूख पैदा कर लेता है, तो जैसे भूखा बच्चा भूख से व्याकुल होकर रोने लगे तो माँ से देखा नहीं जाता, तुरन्त माँ उसके लिए स्वयं उपस्थित हो जाती है। उसी तरह उसकी भूख पैदा होने पर वह बिना भाव के ही मुफ्त में बिक जाता है। मीरा ने गोविन्द को मोल लिया था। गोविन्द के बदले में—

अँसुवन जल जल सींचि-सींचि
प्रेम बेलि बोई।

प्रेम के आंसुओं का दाम देकर अपने प्रेम भाव से गिरधर नागर को अपना सर्वस्व बना लिया था।

रामचरित मानस के उत्तरकाण्ड में गोस्वामी तुलसीदास जी मानस के अधिकारी का निरूपण करते हुए एक स्थान पर उल्लेख करते हैं कि यह राम कथा चन्द्रमा की किरणों के समान भवताप दग्ध जनों को शीतलता प्रदान करने वाली है किन्तु उन्हीं लोगों को ऐसा फल देती जो चकोर पक्षी की तरह भावमग्न होकर इसका अवलोकन करेंगे। प्रसिद्ध है कि चकोर पक्षी चन्द्रमा की किरणों से इतना प्रेम करता है कि उसके धोखेमें आग को भी खा जाता है। जो अपने इष्ट के नाम के लिए संसार की सारी विपत्तियाँ सह लेता है वही मालिक के नाम का भूख पैदा कर सकता है। गोस्वामी जी ने रामकथा के लिए पर्वत की गुप्त खान का एक रूपक दिया है, वेद और पुराण ही पर्वत हैं तथा उसमें रामकथा सुन्दर रत्नों की खान है, उसके रहस्य को सज्जन ही जान पाते हैं। तथा अपनी सुमति रूपी कुदाली से ज्ञान और वैराग्य रूपी नेत्रों से देखकर खोदने लगते हैं तो उसमें से भक्ति रूपी मणियाँ प्रकट होने लगती हैं। खोदने के लिए उन्होंने विशेष स्थिति की शर्त लगा दी है। वह है भावसहित यदि पर्वत की खान खोदेंगे तभी उसमें से भक्ति रूपी मणियाँ निकल पायेंगी। यदि भाव नहीं रहा केवल ज्ञान और वैराग्य लेकर बुद्धि बल से ही उसे चाहा तो भी काम नहीं बनेगा। बन्दे में भाव होगा तभी प्रभु उसे अपनी अमूल्य निधि भक्ति देकर उसे कृतकृत्य बना देंगे।

पावन पर्बत बेद पुराना।
रामकथा रुचिराकर नाना।
मर्मी सज्जन सुमति कुदारी।
ग्यान बिराग नयन उरगारी॥
भाव सहित खोजइ जो प्रानी।
पाव भगति मनि सब सुखखानी॥

हनुमान ने इसी भाव की सम्पत्ति से श्रीराम की निर्भय भक्ति प्राप्त कर ली। शबरी इसी प्रेम भाव से कृतकृत्य होगई। कर्मरूपी कीचड़ में इस शरीर रूपी कमल के अन्दर भावरूपी

पराग पैदा करो तो कृपा रूपी भौंवरा स्वयं तुम्हारे पास उड़कर आ जायगा। जैसे कीचड़ में जन्म लेकर और उससे विकसित होकर भी कीचड़ से निर्लिप्त रहता है वैसे ही जो संसारी कार्य करते हुए अपने मन को दिव्य भाव से भर लेता है उसके कर्म निष्काम कर्म बन जाते हैं। जिससे वे कर्म बन्धन और सुख दुःख के कारण तथा कर्माशय को बढ़ाने वाले नहीं बनते। श्रीमद् भगवद्गीता में योगेश्वर श्री कृष्ण ने अर्जुन को दिव्यभावारूढ़ होकर कर्म करने का उपदेश देते हुए कहा कि

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि
संगंत्यक्त्वाकरोतियः।
लिप्यते न स पापेन
पद्मपत्र मिवाम्भसा ॥

अर्थात् जो आसक्ति रहित होकर ब्रह्म भाव में स्थित होकर खाना पीना, सोना, बैठना, आदि कर्म करता है वह कर्मों से उसी प्रकार निर्लिप्त रहता है जिस प्रकार कमल जल में रहते हुए भी जल की बूँदों का स्पर्श नहीं करता। अनासक्त स्थिति प्राप्त करने के लिए दिव्य भाव में स्थित होकर कर्म करने की बान डालनी चाहिए। दिव्यभाव यह है कि सर्वत्र अपने इष्ट का ही दर्शन होने लगे।

उठत जागत चलत बैठत,
कबहुं न यह छवि हिय बिसरात।

दिव्य भाव के आते ही गीता की यह स्थिति चरितार्थ हो जाती है—

यो मां पश्यति सर्वत्र,
सर्वं च मयि पश्यति ॥
तस्याहं न प्रणश्यामि,
स च मे न प्रणश्यति ॥

जो चराचर में उस व्याप्त सत्ता के दर्शन करता है तथा सब चराचर को उसमें देखता है उसके लिए ईश्वर की सारी सम्पत्ति प्रस्तुत रहती है और उसके योगक्षेम का वहन ईश्वर ही करने लगता है। ईश्वर अपने भक्त के संकट को अपने ऊपर स्वयं ले लिया करता है। वे भाव भक्ति के वशीभूत होकर अर्जुन का रथ हाँकने वाले सारथी बन जाते हैं। माता यशोदा ने उनमें पुत्र का भाव किया तो माँ के सामने गोरस के लिए मचलते हैं। जब उनका भाव भिन्न हुआ तो अपने मुख में ही विश्व रूप के दर्शन करा देते हैं। वे साधक के भाव के साँचे में ढलकर उसी आकार के बन जाते हैं जिस प्रकार का उसका भाव होता है। भरी सभा में द्रौपदी का चीर हरण हुआ। पहले द्रौपदी को अपने सम्बन्धियों का बल था किन्तु उसने देखा उस के काम कोई नहीं आ रहा। फिर उसने अपना साहस बटोरा और अपने बल का भरोसा किया। अपने हाथ से अपनी साड़ी पकड़कर सम्भालने लगी। किन्तु उसका अपना बल भी थक गया तब उसने हे कृष्ण ! हे

कृष्ण ! कहकर करुण क्रन्दन किया। सर्वतो-भावेन जब उनको पुकारा तो वे साड़ी के रूप में ही प्रकट हो गये। क्योंकि द्रौपदी ने यही तो कहा था कि मेरी साड़ी खींची जा रही है। 'मेरी साड़ी' यह भाव ही मुख्य था। इस-लिए प्रभु ने सोचा यदि मैं स्वयं द्रौपदी की सहायता के लिए आऊँ तो यह अनुचित होगा, यह मुझे तो चाह नहीं रही, हां, मुझसे अपनी साड़ी चाह रही है। जैसा उसका भाव था उसके अनुसार ही उन्होंने साड़ियों का अम्बार लगा दिया, दुःशासन साड़ी (सारी) खींचते-खींचते थक गया। वह आश्चर्य में पड़ गया कि—

नारी बीच सारी है
कि सारी बीच नारी है।
या नारी ही की सारी है
या सारी ही की नारी॥

श्याम भाव के अनुसार कहीं सखा बन गये, कहीं शिष्य तो कहीं गुरु, कहीं माया।

मनु और शतरूपा के मन में भाव आया कि परात्पर ब्रह्म उनके बेटे बनें। भावानुकूल श्रीराम दशरथ और कौशल्या की बेटे बन गये। शतरूपा की इच्छा थी कि मुझे शिशुरूप का सुख भी मिले और उनके ईशत्व का आनन्द भी। मनु का भाव था कि मैं प्रभु तुम्हें केवल पुत्र रूप में पाया करूँ। पुत्र भाव ही मेरा रहे और कुछ नहीं। भगवान ने दशरथ और कौशल्या रूप मनु तथा शतरूपा के घर उनके भिन्न-भिन्न भावों के अनुसार ही जन्म लिया और तदनुरूप ही अपनी क्रीड़ायें तथा लीलायें कीं।

संस्कृत के महाकवि भारवि ने एक स्थान पर लिखा कि—

प्रेम्णि गुणाः वसन्ति
न तु वस्तुभि।

प्रेम भाव में ही गुण रहते है। वस्तु में न कोई गुण होता है न कोई अवगुण। जैसा हमारा उसके प्रति भाव होता है वैसी ही वह वस्तु हमें प्रतीत होने लगती है। जब हमारा उसके प्रति पूज्य भाव हो जाता है तो जड़ पदार्थ भी हमारे लिये आराध्य बन जाते है। यदि पूज्य चेतन के प्रति हमारा आदर-भाव न हो तो वह हमारे लिए तिरस्कार करने योग्य बन जाते है। श्रवणकुमार में अपने माता पिता के प्रति देवभाव था तो वह मार्ग की सारे कष्ट उठाकर भी अपने अन्धे माता-पिता को कन्धे पर बँगी (डोली) में रखकर तीर्थाटन केलिए चल पड़ा दिल्ली केपास आकर वहां की भूमि की अनुरूपता से श्रवणकुमार के भाव परिवर्तन होने लगे। वह सोचने लगा इन बुड्ढों को व्यर्थ ही मैं ढोरहा हूं। ये काल के गाल में जाने वाले है। उसने आगे चलने से मना कर दिया। उसके माता पिता ज्ञानी

थे। उन्होंने भाव परिवर्तन का कारण मालूम हो गया था। अतः उन्होंने कहा कि थोड़ी दूर और ले चलो। फिर हमें छोड़ देना। उसने कहना मान लिया। दिल्ली से कुछ दूर निकल पर पुनः उसका भाव सम्हल गया।

भाव क्या है ?

भाव मन के अन्दर सत्व की उद्रेक स्थिति है। केवल सत्व की ही नहीं रज और तम की उद्रेक की स्थिति भी भाव होती है किन्तु जिस भाव की वर्तमान संदर्भ में चर्चा की जा रही है वह भाव मन की ऐसी अवस्था है जिसमें आनन्दानुभूति की चाह का स्फुरण हो। भाव का संयोगेच्छा भी कहा जा सकता है। उस प्रिय से मिलने, प्राप्त करने या उसमें समा जाने की तीव्र इच्छा भाव बन जाती है। मन का क्षोभ संकल्प-विकल्प बन जाता है उससे इच्छा का जन्म होता है। जब इच्छा चित्तशक्ति का सान्निध्य प्राप्त कर लेती है तो इच्छा में शक्ति जुड़कर वह इच्छा-शक्ति भावरूप बन जाती है। जब भाव में गहराई और तीव्रता हो जाती है तो उससे प्रकृति के गुणों में क्रिया होने लगती है। भाव संयोग की तीव्र चाह है। रसतरंगिणी में चित्तवृत्ति के परिवर्तन की रासायनिक क्रिया को भाव कहा है —

'रसानुकूल विकारो भावः।
विकारोऽन्यथा भावः।'

रसोवै सः

रस वह आनन्द घन चैतन्य ही है। उस की चाह होने पर मन में तरलता पैदा होती है। मन पिघलने लगता है। वह पिघलने की क्रिया अहंकार को पिघला कर इतना तरल बना देती है कि सर्वत्र आनन्द भासित होने लगता है। भाव से ही चित्त की विभिन्न दशायें बनती हैं जिन्हें प्रेम की दशायें कहते हैं। यथा—अभिलाषा चिन्ता, स्मृति, प्रशंसा, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मरण आदि प्रेम की दस दशायें भावोदय से ही पैदा होती हैं। काव्य-शास्त्र में स्थायीभाव को ही रसदशा प्राप्त होती है।

'स्थायी भावोरसस्मृतः'

अर्थात् स्थायी भाव ही विभावानुभाव व्यभिचारि भावों के संयोग से रस हो जाता है। भक्तिशास्त्र में जगत के सारे भावों का जब एक सच्चिदानन्दभाव में केन्द्रीकरण होता है तो वही भाव दिव्यभाव तथा महाभाव बन जाता है। महाभाव की अवस्था सम्प्रज्ञात समाधि की आनन्दानुगत स्थिति में आ जाती है जब योगी सर्वत्र नित्य देखो श्याममयी है की अनुभूति करने लगता है। वह जिधर देखता है, उधर आनन्द के ही दर्शन करता है। उसके लिए मरण और जन्म दोनों ही महोत्सव बन जाते हैं। जिधर देखता है उधर ही आनन्द बिखर जाया करता है।

करता है। किसी सूखे पेड़ का आलिंगन करते तो उसमें अंकुर निकल आते हैं। चैतन्य महाप्रभु जब दिव्यभाव और महाभाव में पहुँच जाते थे, उस समय कृष्ण-कृष्ण कहकर किसी सूखे वृक्ष से लिपट जाया करते। उनके आलिंगन करते ही आनन्द का संचार शुष्क वृक्ष में भी हो जाता था और उसके फलस्वरूप वृक्ष में नई नई कोंपलें प्रकट होने लगती थीं।

शास्त्रों में भाव की व्युत्पत्ति—'भवनम् भावः' इस रूप में भी की गई है। होने व परिवर्तन की क्रिया का नाम भाव माना गया है। चित्त वृत्ति का रूपान्तरण भाव संज्ञक कहलाया गया। यह चित्तवृत्ति का रूपान्तर एक विशेष तापमान में हुआ करता है। जब चित्तवृत्ति अन्तर्मुखी बनने लगती है तो रूपान्तर की प्रक्रिया शुरू हो जाती है इसे ही ध्यान कहा जाता है। भाव जब परिपुष्ट अवस्था प्राप्त कर लेता है तो ध्यान हो जाता है और ध्यान की परिपक्वावस्था समाधि बन जाती है। समाधि की परिणतावस्था प्रकृति पुरुष की शुद्ध अवस्था में बदल जाती है। ध्यान से तद्रूपता की प्राप्ति होती है। कृष्ण को देखते-देखते गोपियाँ कृष्ण ही बन गईं। उन्हें अपना आपा ही बिसर गया। जब वे दधि बेचने निकलतीं तो दधि का नाम बिसर जाता और वे गली-गली कहती फिरतीं 'लेलेउरी कोई श्याम सलोना।' यह भाव की परिपुष्ट अवस्था है। 'भू' सत्तार्थक धातु से घञ् प्रत्यय लग कर भावशब्द निष्पन्न होता है। पाणिनि ने 'भाव प्रधानमाख्यातम्' इस सूत्र के द्वारा चित्शक्ति की क्रिया को भाव माना है। यह भाव निरन्तर बना रहे तो कीट भ्रमर न्याय से इष्टाकार में बदलकर समस्त इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण चेतना से ज्योतिमय बन जाते हैं। शास्त्रों में कहा भी है—

'भावितं तीव्र वेगेन
यद्वस्तु निश्चयात्मना।
पुमांस्तद्धि भवेच्छीघ्रं
ज्ञेयं कीटभ्रमरवत् ॥
अपरोक्षानुभूति-१४० ॥

यदि निश्चयात्मक मन से तीव्र संवेग द्वारा किसी वस्तुको अपने भाव का विषय बना लिया जाय तो मनुष्य भाव के अनुसार वही होजाता है, भाव एक ऐसा सांचा है जिसमें ढलकर सारी वस्तुयेंसोचने का आकार ग्रहण कर लिया करती है। इसीलिए कहा जाता है कि जैसा भाव होता है वैसा ही भव अर्थात् संसार होता है यदि संसार के प्रति दुःख का भाव है तो सुख भी दुःखरूप ही प्रतीत होता है। जैसा चश्मा चढ़ालें वस्तु का रंग और रूप चश्में के अन्दर वैसा ही दिखाई पड़ता है।

भाव के बिना योग, ध्यान, जप, यज्ञ सब कुछ निष्फल है। गोस्वामी तुलसी ने भाव की वत्स अर्थात् गाय के बछड़े की उपमा

दी है। ज्ञानदीप प्रसंग में श्रद्धा रूपी धेनु के भावरूपी वत्स जब पैदा होता है तब भाव रूपी बछड़े के स्तनपान करने पर गाय दूध देती है।

सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई।
भाव वत्स सिसु पाय पिन्हाई॥

भाव का जन्म श्रद्धा से होता है। जब तक श्रद्धा नहीं है तब तक सात्विक भाव बन ही नहीं सकता। बिना सात्विक भाव के ध्यान और समाधि नहीं हो सकते। बिना भाव के योग में सिद्धि नहीं मिल सकती। आचार्य चाणक्य का मत है कि बिना वेद मन्त्रों के अग्निहोत्र तथा बिना दान के सारी क्रियायें निष्फल हैं। इसी प्रकार भाव के बिना किसी भी कार्य में सिद्धि नहीं मिल पाती। इसलिए भाव ही सफलता का मूल कारण है। आज कल योग के प्रचारकों की बाढ़ आयी हुई है किन्तु अधिकांश का भाव धन संचय करना है योग को प्रचार नहीं। अतः योग से उतना कल्याण नहीं हो पाता जितना होना चाहिए।

अग्निहोत्रं बिना वेदाः
न च दानं बिना क्रियाः।
न भावेन बिना सिद्धिः,
तस्मात् भावो हि कारणम्॥

चाणक्य नीति—१

भाव से ही इस हाड़-मांस के शरीर में माता-पिता, भाई, गुरु, में पूज्य बुद्धि होती है। जिस मूर्ति की पूजा करते हैं, वह काष्ठ एवं पत्थर की मूर्ति बिना भाव के पत्थर मात्र ही है। देवता मूर्ति में तभी उतरता है जब पहले हमारे अन्दर के भाव में वह हो। यदि अन्दर नहीं है तो बाहर कभी नहीं हो सकता।

न देवो विद्यते काष्ठे
न पाषाणे न मृण्मये।
भावो हि विद्यते
देवस्तस्माद् भावो हि कारणम्॥
काष्ठ पाषाण धातूनां
कृत्वा भावेन सेवनम्।
श्रद्धया च तथा सिद्धिस्तस्य
विष्णोः प्रसादतः॥

यदि पत्थर काष्ठ तथा धातु की मूर्ति का देवबुद्धि से श्रद्धा पूर्वक सेवन किया जाय तो ईश्वर की कृपा से उसमें चितिशक्ति का प्रकाश हो जाता है। जो मूर्ति को अपनी जीविका का साधन मानकर उसी भाव से उसका पूजन अर्चन करते हैं उन्हें भाव के अनुसार अपना इच्छित पदार्थ प्राप्त होता रहता है। रामकृष्ण परमहंस भी मूर्ति की पूजा करते थे किन्तु उनका भाव था कि इस मूर्ति में साक्षात् जगदम्बा विराज रही हैं और वे ही इस संसार में अनेक रूप धारण कर लीला कर

रही है। परमहंस को इस भाव से ही सब कुछ मिल गया। यदि रामकृष्ण परमहंस जैसा पुजारी बन जाय तो सारा काम ही न बन जाय।

सारा जगत भावमय है। परिवर्तन से नाना प्रकार की समस्यायें पैदा हो जाती हैं। पदार्थ एक ही है किन्तु अपने-अपने भाव के अनुसार अलग-अलग प्रतीत होती है तथा उस पदार्थ के प्रति व्यवहार भी भिन्न-भिन्न हो जाता है। उदाहरण के लिए कोई सुन्दर युवती है। वही भावभेद से अनेक रूपों में दिखाई देने लगती है। जो उसे माँ के भाव से देखता है उसे उस युवती में ममता करुणा तथा अमित स्नेह की प्रतीति होती है तथा जो उसे पत्नी भाव से देखता है उसे उसमें वासना की प्रतीति होती है। इसी प्रकार जो उसे भगिनी, पुत्री आदि-आदि भिन्न-भिन्न भावों से देखता है उसे अपने भाव के अनुसार ही अनुभूति होती है। नीतिज्ञ चाणक्य ने कहा भी है—

एक एव पदार्थस्तु
त्रिधा भवति वीक्षितः।
कुणपं कामनी मांसं
योगिभिः कामिभि श्वभिः॥

शास्त्रों में शब्द तथा अर्थ से भिन्न तात्पर्यार्थ होता है। वही वस्तुतः भाव है। उसे ही पदार्थ कहा जाता है। केवल शब्द ज्ञान से कुछ नहीं होता। जिस तरह पुष्प में रंग रूप के अतिरिक्त गन्ध भी होती है उसी प्रकार शब्दों के हृदय में भाव रूप पराग है। जैसे अपने इष्ट की स्मृति, चुम्बन, वेदना, दर्द और मिलनोत्कण्ठा भाव ही है हमारा लिंग शरीर भावमय ही होता है। (भावैरधिवासितं लिङ्गम्—सांख्यकारिका) भाव ही हमारे भव अर्थात् जन्म का भी कारण है। सन्तानोत्पत्ति क्रिया के समय पति पत्नी के मन में जैसा जैसा भाव होता है उसी तरह का भावी बच्चे का स्वभाव बनता है। यदि दम्पति का भाव दिव्य है तो कामविकार के साथ दिव्य चेतना बालक में संक्रमित हो जाती है। इसके विपरीत यदि वासना और भोग का ही भाव होता है तो बालक जन्म से ही काम-वासना का पुतला बन जाता है। गरुड़ पुराण में इस सिद्धान्त का प्रमाण मिलता है—

निषेक समये यादृक्
नरचित्त विकल्पना।
तादृक् स्वभाव संभूति
र्जन्तु विशति कुक्षिग :।

माता पिता जैसी चाहे वैसी ही सन्तान बना सकते है। यदि वे काम को धर्मसम्मत बनाकर गृहस्थ में प्रवृत्त हों।

केवल स्वभाव ही नहीं मृत्यु के समय के

(शेष पृष्ठ ३० पर पढ़ें)

स्वास्थ्य के उपयोगी नियम

१-सदा शीतल जल से स्नान करो।

२-केवल रोग में कोसे (गुनगुने) जल से नहाओ।

३-खाने के तत्काल पहले व पीछे जल मत पीओ, भोजन में थोड़ा जल पीओ। यदि भोजन के एक घण्टा पीछे जल पीलें, तो अधिक लाभ होता है।

४-ग्रीष्म-काल में बर्फ तथा सोडा मत पीओ, इनसे प्यास तथा शुष्कता बढ़ती है तथा पाचन-शक्ति घट जाती है।

५-विशूचिका (हैजे) में कुएं का जल उबालकर पीओ।

६-प्रतिश्याय (जुकाम), खाँसी तथा शीत-ऋतु में सदा उष्ण जल सेवन करो।

७-स्वभाव से चाय मत पीओ। यह भूख, प्यास और नींद कम करती है, अण्ड-कोषों को निर्बल बनाती तथा मूत्र अधिक लाती है।

वायु-

१-खुली वायु में नित्य यौगिक व्यायाम करो।

२-खुले मैदान और उपवन (बाग) में जाकर गहरे श्वास लो।

३-तंग गली-कूचों में रहना छोड़ दो।

४-सोते समय झरोखों (रोशनदानों) को खुला रखो।

५-बहुत सर्दी में सिर ढाँप लो परन्तु मुँह खुला रखो।

६-रोगी के कमरे में बहुत मत रहो।

७-सदा नाक से श्वास लिया करो।

८-यौगिक व्यायामों में जीवन तत्त्व साधन नियमित रूप से अवश्य करते रहो।

पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्

(वनवासी की झोली से)

योजनानां सहस्र तु शनैर्गच्छेत पिपीलिका ।
अगच्छन वैनतेयोऽपि पदमेकं न गच्छति ॥

चींटी धीरे-धीरे चलकर हजारों योजन तय कर जाती है जब कि बैठा हुआ गरुड़ एक कदम भी चल नहीं सकता है ।

अनाहूतः प्रविशयति अपृष्टो बहु भाषते ।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढ़चेता नराधमः ॥

बिना बुलाये जो आ जावे, न पूछने पर पूछने पर भी जो बहुत बोले न विश्वास करने वालों पर जो विश्वास करे वह मूढ़ बुद्धि वाला अत्यन्त पतित पुरुष होता है।

उद्यमः साहसं धैर्यं बुद्धिः शक्तिः पराक्रमः ।
एतानि यत्र वर्तन्ते तत्र देवः प्रसीदति ॥

उद्यम, साहस, धैर्य, बुद्धि और पराक्रम जहां होते हैं वहाँ देव प्रसन्न होता है ।

सर्वं द्रव्येषु विद्यैव द्रव्य माहुरनुत्तमम् ।
अहार्यत्वादनर्घ्यत्वाद् अक्षयत्वाच्च सर्वदा ।

सब धनों में विद्या धन सर्वश्रेष्ठ कहा गया है, क्योंकि इसे कोई चुरा नहीं सकता है वह अमूल्य है, और यह कभी क्षीण भी नहीं होता है।

संसार कटु वृक्षस्य द्वे फले अमृतोपमे ।
सुभाषित रसास्वादः सङ्गमः सुजनैः सह ॥

संसार रूपी कड़ुवे वृक्ष के अमृत के समान दो फल हैं। एक तो सुभाषितों (सद्वाक्यों) के रसों का स्वाद और दूसरा सज्जनों का समागम।

पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि जलमन्नं सुभाषितम् ।
मूढ़ं पाषाण खण्डेषु रत्न संज्ञा विधीयते ॥

पृथ्वी में तीन रत्न हैं, पानी अन्न और सुभाषित परन्तु मूर्खों द्वारा पत्थर के टुकड़ों को रत्न नाम दिया जाता है।

पण्डिते हि गुणाः सर्वे मूर्खे दोषाश्च केवलम् ।
तस्मान्मूर्ख सहस्रेभ्यः प्राज्ञ एको विशिष्यते ॥

पण्डित में सभी गुण होते हैं, जबकि मूर्खों में केवल दोष होते हैं अतः हजार मूर्खों की अपेक्षा एक विद्वान अच्छा है।

पुस्तकं एव नाधीतं नाधीतं गुरु सन्निधौ ।
सभायां शोभते नैव हंस मध्ये बको यथा ॥

जिसने पुस्तक का अध्ययन नहीं किया और जो गुरु के पास नहीं गया वह सभा के बीच में ऐसे ही शोभा को नहीं प्राप्त होता जैसा कि हंसों के बीच में बगुला।

स्वभावं न जहात्येव साधुरापद् गतोऽपि सन्।
कर्पूरः पावक स्पृष्टः सौरभं लभते तराम् ॥

सज्जन पुरुष आपत्ति आने पर भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ता है। जिस प्रकार कि अग्नि से जलाने पर कपूर अपनी अधिक सुगन्ध देने का स्वभाव नहीं छोड़ता।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायोह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥

नियत अर्थात् नियमित कर्म को तू कर, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना अधिक अच्छा है। यदि तू कर्म न करेगा तो तेरा जीवन-निर्वाह तक न हो सकेगा।

सहजं कर्म कौन्तेय, दोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता ॥

सहज कर्म को दोषयुक्त होने पर भी नहीं त्यागना चाहिए, क्योंकि सभी कर्म धुएँ से अग्नि की भांति एक न एक दोष से आच्छादित रहते हैं।

योग-साधना का फल--

श्री रामगोपाल सोनी

प्रभु श्री रामलाल संगीत विद्यालय एवं योग प्रचार मण्डल झांसी द्वारा मास नवम्बर १९८३ में आयोजित कार्यक्रम में विश्व वन्दनीय योगिराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज ने अपने प्रथम दिन के प्रारम्भिक प्रवचन में कहा कि आज-कल जिन लोगों ने कहीं से भी थोड़ा सा योग का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उस विषय में समर्थ न होते हुए भी योग साधनाएँ बतला कर अपनी ओर आकर्षित करते हैं। ऐसे तथाकथित योगी योग के नाम पर व्यापार प्रारम्भ कर देते हैं और गुरु बनकर मात्र अपनी पूजा करवाना चाहते हैं। ऐसे व्यक्तियों से साधक अनेक हानियां उठाते हैं और अन्त में साधना में असफल ही रहते हैं। इसी लिए यह उक्ति सही चरितार्थ होती है "देखा देखी साधे योग, छीजे काया बाढ़े रोग"।

योग साधना गुरु से सीखें-

गुरु के द्वारा बताये मार्ग पर चल कर ही योगाभ्यास प्रारम्भ करना चाहिए क्योंकि गुरु ही योग-विधियाँ को भली-भांति करवाने में सक्षम होते हैं। अभिप्राय यह है कि गुरु के बिना योग विद्या का ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर है? योग साधना में अभ्यास की आवश्यकता होती है और अभ्यास बिना अनुभव के सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए योग जिज्ञासु को गुरु शरण में आकर शिक्षा प्राप्त करने का उपदेश है। परम पूज्य गुरुदेव ने कहा कि जब से वे अपने गुरुदेव योगेश्वर पूर्ण सिद्ध परम योगी प्रभु श्री रामलाल जी की शरण में आये तब से उनके मन में बराबर यह भावना बनी रही कि योग क्या है? उसका वास्तविक स्वरूप क्या है? वे उसका प्रचार-प्रसार करें और लोगों की भावनाओं को जाग्रत कर उन्हें अन्तर्मुखी बना सकें, ताकि वे योग मार्ग पर चल कर आत्म-कल्याण कर सकें।

कर्मकाण्ड व योग-साधन

परम पूज्य गुरुदेव ने आगे कहा था कि

कर्मकाण्ड की कठिन साधना होती है। उसमें कुछ न कुछ कमी रह जाती है। कर्मकाण्ड की अथक साधना के उपरान्त भी साधक को स्वर्ग प्राप्ति की सम्भावना कम ही रहती है जब कि योग की साधना करने वाले साधक को स्वर्ग की प्राप्ति सरलता से हो जाती है। योग दर्शन के सिद्धान्त के अनुसार ऐसे साधक स्वर्ग प्राप्ति को दण्ड-स्वरूप मानता है। अर्जुन ने भगवान श्री कृष्ण से अपनी शंका व्यक्त की कि हे भगवान जिसका मन चलायमान हो गया है वह भगवत् साक्षात्कार न प्राप्त कर किस गति को प्राप्त होता है ? क्या यह छिन्न भिन्न बादलों की तरह नष्ट तो नहीं हो जाता ? योग योगेश्वर भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन की शंका का समाधान करते हुए कहा कि ऐसे पुरुषों का न तो इस लोक में और न ही परलोक में नाश होता है। और न दुर्गति को प्राप्त होता है।

"प्राप्य पुण्यकृतां लोका-
नुषित्वाशाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे
योगभ्रष्टोऽभिजायते !! "

"अथवा योगिनामेव
कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके
जन्म यदीदृशम् !!"

अर्थात् योग भ्रष्ट पुरुष पुण्यवानों के लोकों को अर्थात् स्वर्गादिक उत्तम लोकों को प्राप्त होकर बहुत वर्षों तक वास करके पुनः शुद्ध आचरण वाले श्रीमान पुरुषों के घर में जन्म लेता है। अथवा ज्ञानवान योगियों के कुल में जन्म लेता है। परन्तु इस प्रकार का जन्म इस संसार में निः सन्देह अति दुर्लभ है।

भगवान कृष्ण ने योग की महिमा बताते हुए अर्जुन को योगी बनने की आज्ञा दी। भगवान कृष्ण ने कहा

" तपस्विभ्योऽधिको योगी
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः !
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी
तस्माद्योगी भवार्जुन" !!

अर्थात् योगी तपस्वियों में श्रेष्ठ है। और शास्त्र ज्ञान वालों से भी श्रेष्ठ माना गया है। तथा तप करने वालों से भी श्रेष्ठ माना गया है। और सकाम करने वालों से भी योगी श्रेष्ठ है, इसी लिए हे अर्जुन ! तू योगी होजा।

परम पूज्य गुरुदेव ने अपना प्रवचन

२९ पृष्ठ का शेष

भाव शुद्धि से महाभाव

के अनुसार मनुष्य का जन्म भी निश्चित हो जाता है। यदि मृत्यु के समय श्री सद्गुरुदेव की करुणाकृपा से उत्तम भाव बन जाय तो मनुष्य योनि में जन्म मिल सकता है। यदि कर्म प्रवाह तथा पूर्व अभ्यास के परिणाम-स्वरूप किसी प्रकार का अन्य भाव बन गया तो जड़ भरत जैसे वीतराग महापुरुष का भी जन्म मृग की योनि में हो जाता है। योगी भरत ने आश्रम में एक मृग पाला था। अन्त समय उनकी वृत्ति मृग में चली गई उसका परिणाम हुआ कि इतनी तपस्या के बाद में भी उन्हें पशु योनि ही मिली। भगवान बुद्ध के जीवन चक्र में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जब वे मृग, बकरा आदि-आदि योनियों में जन्म लेते रहे। तपश्चर्या के प्रभाव से उन्हें सभी योनियों में आत्मबोध बना रहा तथा उस योनि में सर्वोत्कृष्ट प्राणी बने। यह सब भाव का ही परिणाम है। योगेश्वर श्री कृष्ण ने गीता में इस सिद्धान्त का निरूपण निम्न-लिखित शब्दों में किया है—

'यं यं वापि स्मरन्भावं,
त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय,
सदा तद्भाव भावितः॥
८/६

जन्म और मरण सब कुछ भाव के ही अधीन है। इतना ही नहीं मोक्ष भी भाव-प्रधान है। मीरा को राणा ने विष का प्याला भेजा। प्रेम दिवानी मीरा का यह भाव था कि यह मेरे प्रभु का चरणामृत है। चरणामृत के भाव से विष को भी वह पी गयी। भाव ने वस्तु के स्वभाव को ही बदल दिया। विष मीरा के लिए अमृत बन गया। इसी तरह प्रह्लाद को लोहे के गर्म खम्भे से बांधा गया, किन्तु प्रह्लाद का दिव्य भाव था। अपने प्रभु को सर्वत्र देखते थे। उसके भाव से भगवान को उस खम्भे से नृसिंह का रूप रखकर प्रकट होना ही पड़ा। भाव में बहुत बड़ी चुम्बकीय शक्ति होती है। भाव के वश में संसार है और यह विश्व का स्वामी भी भाव के ही अधीन है, वह भक्ति के पुतले भक्तों के हाथ मुफ्त में बिकने को तैयार रहता है। पर भाव भक्ति वाला साधक मिलता कहां है? लोग अपने गलेबाजी तथा कला के अभिनय से

(पिछले पृष्ठ का शेष)

का उपसंहार करते हुए कहा कि सभी लोग अपने गुरुदेव से प्राप्त मंत्र का बताई गई विधि से ध्यान करें। आनन्द-कन्द प्रभु जी सबका कल्याण करेंगे। अन्त में आपने सभी को आशीर्वाद दिया।

कीर्तन-भजन और कथा द्वारा उसे रिझाना चाहते हैं। वह नटवर नागर है। वह लोगों के नाटक को अच्छी तरह समझता है।

वह धन से, दिखावे से और बिना भाव के मगरमच्छी आंसुओं से रीझता नहीं। वह तो भाव का भूखा है। विदुर के घर भाववश साग-पात खा लेता है और अभिमानी दुर्योधन की मेवा की ओर देखता भी नहीं। शबरी के जूठे बेर उसे बहुत प्रिय लगते हैं–क्योंकि उनमें शबरी के हृदय का सात्त्विक भाव-समर्पण भाव ओत प्रोत है। भाव से ही उस भावातीत की प्राप्ति होती है। वैसे वह मन वाणी से अगम अगोचर है पर भाव की चुम्बक से वह सुगम बन अपनी करुणा-कृपा की वृष्टि से बन्दे को सराबोर कर देता है।

भाषा, अध्यापक, वाक्यों के तीन रूपों की चर्चा किया करते हैं–कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य तथा भाववाच्य। कर्त्तृवाच्य में क्रिया कर्त्ता के अधीन होती है और फल का भोक्ता कर्त्ता होता है। कर्मवाच्य में क्रिया कर्म का अनुगमन करती है उसमें क्रिया का फल कर्मप्रधान हो जाता है भाववाच्य में क्रिया ही प्रधान होती है और कर्त्ता तथा कर्म क्रिया के आश्रित हो कर्त्तापने तथा कर्मत्व का जब अभिमान छूट जाता है तो कर्म-बन्धन का कारण नहीं बनते अपितु ऐसे कर्म मोक्ष जनक बन जाते हैं।

आत्मवन्तम् न कर्माणि-
बध्नन्ति धनञ्जय।'
गीता

जो सर्वत्र आत्मा के ही दर्शन करता है उसकी क्रिया भाववाच्य बन जाती है। महाभाव की परिणति आत्मभाव में होती है। भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं—

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं-
यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति
मद्भावं सोऽधिगच्छति॥
१४/१७

जब विवेकज्ञान के उदय से साधक को यह दृष्टि मिल जाय कि प्रकृति के त्रिगुण ही व्यवहार में बरत रहे हैं। गुणों से भिन्न एक गुणातीत पुरुष है, तभी वह आत्मवान् बनता तथा फिर ईश्वर के अनुग्रह से वह उसका ही बन जाता है। पुरुष में जब प्रकृति के गुणों का रंग लगने लगा तो उसमें इच्छा और चाह तथा मांग पैदा होने लगी। उसके अहंकार का यहीं से जन्म हो गया। इस अहंकार ने ही उसे कर्त्तापन देकर कर्मों के भ्रमजाल में फँसा दिया।

जुदा था मैं और जुदा ही रहता,
इक आरज़ू ने मुझको बन्दा कर दिया॥

—क्रमशः

जीवन तत्व साधन--

ज्योतिष-कलानिधि श्री शिवनाथ मेहरोत्रा

श्री महाप्रभु जी के आदेश से विश्व में प्रचलित हुई जीवन तत्व साधन की योगक्रिया एक अपूर्व शक्ति संचारी साधना है। इस सम्बन्ध में 'सिद्धयोग' के सुविज्ञ पाठकों से कुछ कहना सूर्य को दीपक दिखाना ही होगा।

मेरे गुरुदेव श्री योगिराज चन्द्रमोहन जी महाराज कुछ समय पूर्व मेरे निवास स्थान को दिव्यालोक से पूरित करने पधारे थे। महात्मा लोग कई बातें अद्भुत करते हैं। समस्त विश्व को ज्ञान का प्रकाश देने वाले योगिराज प्रभुजी ने मुझे एक बालिका का हाथ देखने की आज्ञा दी। उसका हाथ देख कर जो कुछ कहना था मैंने कहा। परन्तु उस का उपचार श्री प्रभुजी के सामने स्वयं व्यक्त करने से मुझे हिचक हुई। जो सबको मार्ग दिखाते हैं उनके समक्ष किसी को मार्ग दर्शन देना शोभनीय नहीं। परन्तु बाद में विचार कर के देखता हूँ तो अब यह स्पष्ट समझ में आता है कि प्रभुजी की इच्छा मुझसे इस लेख को लिखाने की थी और इसी कारण वह अद्भुत प्रश्न उन्होंने उस समय उठाया था, जिसे संकोचवश मैं तत्काल प्रतिपादित नहीं कर सका।

ठीक वैसी ही गर्दन में पीड़ा का प्रभावी प्रायः चार वर्ष पूर्व एक अन्य बालिका को हुआ था। उसे मैंने निस्संकोच परामर्श दिया था। जीवन तत्व साधन के साथ इस पहलू का ध्यान रखना एवं मुझे जो पद्धति श्री गुरुदेव जी ने दी उसका प्रयोग करना सम्भवतया इस पद्धति के यौगिक गुणों की वृद्धि में सभी को सहायक प्रतीत होगा।

जीवन तत्व साधन में नौ क्रियायें समन्वित हैं। इन नौ क्रियाओं का अभ्यास करते समय प्रत्येक क्रिया एक एक विशेष चक्र में ध्यान धरते हुए संचालित करने की पद्धति मुझे मेरी बुद्धि को प्रेरणा प्रदान कर श्री गुरुदेव जी ने दी है। यह इस प्रकार होगी—

१-सर्वोत्तान—

लेट कर अपने हाथों की उंगलियां अपने हाथों में डालकर और उलटा करके सिर के पिछली ओर ले जायें। पैरों को लम्बा पसार कर जितना अधिक से अधिक तनाव दे सकते हैं उतना दें। श्वास लेने के बाद तनाव करें

और जब प्रश्वास करें तो शरीर ढीला छोड़ दें।

यह क्रिया करते समय मूलाधारचक्र में चौकोर पीली भूमि में बने चतुर्दल कमल में स्थित भगवान श्री योगगणपति का ध्यान करें। जितनी बार यह क्रिया करें यह ध्यान क्रमित हो।

२-स्कन्धचालन—

सावधान होकर बैठ जायें। अपने कन्धों को साइकिल के पैडलों की तरह नीचे ऊपर रखें। पहले जिस क्रम से चलायें बाद में उससे विपरीत क्रम से चलायें।

इसे करते समय लिंगमूल में स्थित स्वाधिष्ठान चक्र का ध्यान करें जो ६ दलों वाला है और जहां श्वेत वर्ण के जल तत्व का निवास है। यहां स्थित जल तत्व तो श्वेत है परन्तु ६ कमलदल रक्तवर्ण के हैं। यहां पर स्थित ब्रह्मा जी का ध्यान करें। जब तक यह क्रिया होगी तब तक स्वाधिष्ठानचक्र में स्थित जल तत्व एवं ब्रह्मा जी का ध्यान चलता रहना चाहिए।

३-पद चालन—

सीधे लेट कर अपने पैर के ऊपर पैर रखें व उसे इस तरह हिलायें कि एड़ी जमीन पर लगे। जो पैर ऊपर रखा है उसकी एड़ी जमीन पर लगनी चाहिए। क्रमशः दोनों पैरों को एक के बाद दूसरे को एक पर एक रख कर यह क्रिया होती है। इसे करते समय कमर से ऊपर का भाग न हिले, नीचे का भाग घूमता रहे, ऐसा प्रयास होना चाहिए।

इसे करते समय नाभिकमल स्थित मणिपूरक चक्र का ध्यान करना चाहिए जहाँ अग्नि तत्व का निवास है और दस-दलों के कमल मध्य में भगवान विष्णु का ध्यान करते रहना चाहिए।

४-नाभिचालन

लेटे लेटे दाहिने से बाएँ और बाएँ से दाहिनी ओर करवट बदलने की तरह शरीर को पलटते रहें। फिर अपने स्थान पर स्थिर रहना चाहिए।

इसे करते समय हृदयकमल में स्थित बारह दलों के अनाहतचक्र में वायु तत्व एवं कमल मध्य में भगवान शिव का ध्यान करते रहना चाहिए।

५-जानुप्रसार

लेटे ही लेटे अपने दाहिने पैर को मोड़ कर जानु के पास दाहने पैर का पंजा सटायें और दाहिने पैर के जानु को जमीन पर लगा दें फिर उसे धीरे धीरे ऊपर उठायें। यह क्रिया तीन बार दाहिने पैर से और तीन बार बायें पैर से इसी प्रकार करनी चाहिए।

इसे करते समय कण्ठ स्थान में स्थित

भी इस दल विशिष्ट विशुद्धचक्र में आकाश तत्व के मध्य में अर्धनारीश्वर भगवान सदाशिव का ध्यान करते रहना चाहिए।

६-बालमचलन—

सीधे लेट कर अपने दोनों पैरों तथा दोनों हाथों को इस ढंग से जल्दी जल्दी चलाना चाहिए जैसे बच्चे जब मचलते हैं तब जोरों से हाथ पाँव मारते हैं।

इसे करते हुए भ्रूवों के मध्य में स्थित दो दलों वाले आज्ञा चक्र में श्वेतकमलों के मध्य में ब्रह्मा-विष्णु-महेशात्मक गुरुस्वरूप भगवान दत्तात्रेय जी का ध्यान करना चाहिए। अथवा अपने गुरुदेव जी का ध्यान करना चाहिए।

७-बालक स्वरूपी आनन्दकन्द का ध्यान-

× × × × ×

अपने शरीर को बिल्कुल स्थिर भाव से छोड़ दें। शान्त चित्त से लेटे लेटे आनन्दकन्द बालस्वरूप भगवान का ध्यान करें।

यह ध्यान ललना चक्र में करना चाहिए जहाँ चौसठ दल पद्म में महामाया के स्वामी भगवान बालकृष्ण वट पत्र पर लेटे अपने पाँव का अँगूठा पीते दिखाई देंगे।

८-नाड़ी सञ्चालन—

सीधे बैठ जाएँ। अपने पैरों को अधिक से अधिक एक दूसरे से जितनी दूरी पर फैला सकें फैला दें। पैर का पूरा ही भाग पृथ्वी से संलग्न पड़ा रहे। अब शरीर थोड़ा सा आगे की ओर झुकाकर दाहिने हाथकी अंगुलियों से बायें पैर के अंगूठे को छुओ व बाएँ हाथ को एकदम पीछे ले जाओ। उसी के बाद में दाएँ हाथ को घुमा कर पीछे ले जाएँ व बाएँ हाथ से दाएँ पैर के अंगूठे को छुएँ। इसी तरह चक्राकार घुमाते रहें।

इस क्रिया को करते समय गुरुचक्र में भगवान सर्वेश्वर गुरु का ध्यान शतदल कमल के मध्य में करना चाहिए। गुरुदेव जी के स्वरूप में महाप्रभु जी का ध्यान किया जा सकता है। यहाँ जो गुरुदेव विराजमान हैं वे सपत्नीक स्थित हैं अतः भगवान गौरीशंकर के रूप में वे ध्यान में देखे जाते हैं।

९-वरक्ष पग—

खड़े होकर अपने हाथों और पैरों को जोरों से झटक देना चाहिए।

इसे करते समय सहस्रार चक्र में स्थित केसर वर्ण के कमलों के मध्य में बिन्दु रूप से स्थित महज्ज्योतिस्वरूप परमात्मा का ध्यान करना चाहिए।

इस प्रकार जीवन तत्व साधना के साथ साथ ध्यानाभ्यास होता रहेगा।

अब जिस व्यक्ति को गर्दन में रोग हो उसे विशेषरूप से कण्ठचक्रस्थ विशुद्धचक्र के ध्यान

के साथ भानुप्रसार नाम्नी क्रिया का अभ्यास करने से मनोभीष्ट आरोग्य प्राप्त होगा।

यदि उदर सम्बन्धी रोग है तो मणिपुर चक्र का ध्यान करते हुए पवचालन क्रिया करनी उचित होगी।

यदि ब्रह्मचर्य की पुष्टि या ऐन्द्रिय शक्ति में से किसी भी प्रकार के सत्फल की आकांक्षा हो तो स्वाधिष्ठानचक्र सम्बन्धी ध्यान ब्रह्माजी का करते हुए स्कन्धचालन क्रिया करने से अभीष्ट शक्ति संचार होगा।

यदि कोष्ठशुद्धि करनी हो और शरीर की सर्वथा आरोग्यता अभीष्ट हो तो मूलाधार चक्र में श्री योगगणपति के ध्यान पूर्वक सर्वोत्तान क्रिया करनी उपयुक्त होगी।

यदि श्वास प्लुरिसी, ब्रोंकाइटिस जैसे रोगों पर विजय पानी है तो नाभिचालन क्रिया करते हुए हृदयकमल स्थित वायु तत्व गत द्वादशकमलों के मध्यस्थ भगवान शिव का ध्यान करना होगा।

यदि योगशक्तियों का प्रखर विकास अभीष्ट है तो आज्ञाचक्र में भगवान दत्तात्रेय के ध्यान पूर्वक अथवा भगवान शिव गुरुदेव के ध्यान पूर्वक प्रबल इच्छाशक्ति के साथ वालमचलन क्रिया करनी चाहिए।

यदि पूर्णानन्द की अभिलाषा है तो ललना चक्र में भगवान बालमुकुन्द का ध्यान शान्त चित्त से लेटकर करना चाहिए।

यदि सर्वसिद्धि और दिव्यज्ञान की अभिलाषा है तो विशेषरूप से गुरुचक्र में भगवान गौरीशंकर स्वरूपी गुरुदेव जी का शतदल कमलमें ध्यान करते हुए नाड़ी-संचालन क्रिया बार-बार करनी चाहिए।

उत्क्षेपण क्रिया पूर्वक ब्रह्मरन्ध्र में सहस्र दल कमल में भगवान के ध्यान के द्वारा भगवान के अनुग्रह की प्राप्ति की आशा करनी चाहिए।

—×—

जो रहीम तन हाथ है, मनसा कहुं किन जाहि।
जल में जो छाया परे, काया भीजति नाहि॥

जो रहीम मन हाथ है, तो तन कहुँ किन जाहि।
जल में जो छाया परे, काया भीजति नाहि॥

टूटे सुजन मनाइए, जो टूटे सौ बार।
रहिमन फिरि फिरि पोइए, टूटे मुक्ताहार॥

सिद्धपथ-पाथेय

श्री डा० विजयसिंह ,गोरखपुर

स्वामी श्री मुक्तानन्द जी अपने आध्यात्मिक जीवन के महान अनुभव "चित्शक्ति विलास" नामक अपूर्व एवं अमूल्य ग्रन्थमें बड़ी ही सहजता तथा सरलता से सिद्धयोगानुगामी साधकों के हितार्थ प्रकाशित किये हैं। यह वर्तमान तथा भविष्य में शक्तिपात मार्ग से आध्यात्मिक उत्थान चाहने वाले सभी साधक उनके इस महती मार्ग-दर्शन के लिये चिर-ऋणी रहेंगे। यहां उनके अनुभवों का सारसंक्षेप में उद्धरित किया जा रहा है।

शक्तिपात द्वारा महाशक्ति कुण्डलिनी का जागरण साधक सहज ही गुरु कृपा से प्राप्त कर लेता है। गुरु कृपा पात्र शक्ति-पात विद्या के अनुभवी कई सन्त महात्मा पुराने काल में हो चुके है वर्तमान में भी है। सिद्ध मार्ग अखण्डित और अबाधित है। सिद्धयोग की विशिष्टता यह है कि साधक के लिए जो आवश्यक है वह बिना प्रयत्न के अपने आप गुरु कृपा से मिलता है। परन्तु साधक को सिद्धमार्ग में गुरु-निष्ठावान होना चाहिए। गुरु में अश्रद्धा या शंका आने से प्रगति रुक जाती है। अतः सिद्धयोग में गुरु एवं गुरुभक्ति को बहुत महत्व माना गया है।

शिष्य का कर्तव्य—

गुरु संग, गुरु सेवा, गुरु आज्ञा पालन यही इतना है सिद्धमार्ग या सिद्धयोग।

शक्तिपात के प्रकार और उनके अनुभवों के बारे में मुख्य रूप से श्री ज्ञानेश्वर, सन्त तुकाराम, योगी मुकुन्दराय, कबीर साहब, श्री शंकराचार्य आदि महात्माओं ने वर्णन किया है। शक्तिपात प्राप्त साधक में गुरु शक्ति के कार्य कलाप अद्भुत एवं अकल्पनीय हुआ करते हैं। महाकुण्डलिनी शक्ति के जागरण से होने वाली यौगिक क्रियायें, भयावने दृश्य, ज्योति दर्शन, लोकान्तर एवं देवी देवताओं के दर्शन, नाद श्रवण, प्रतीक दर्शन, मरण भय, षट् चक्र भेद, नेत्र बिन्दु भेद, अमृत पान, प्रेम भाव, शक्ति भाव, गुरु भाव, इत्यादि सिद्धयोग के साधकों को होता है। साधक के लिए विचारणीय है कि वह जागृत शक्ति के रक्षण हेतु गुरुनिष्ठा, शुद्ध आचरण, एकान्त सेवन मित्भाषण, सत्संगति, सुविचार एवं सच्चाई का पालन करें। साधक का रहन-सहन सिद्धों के अनुकूल होना चाहिए। शिष्य गुरु को जितना ही महान मानता है वह उतना ही

महान बनता है। स्वामी मुक्तानन्द जी का सिद्ध विद्यार्थियों को आदेश है कि वे साधन में दम्भ-अनुकरण या प्रशंसा की कामना न रखें। गुरु भक्ति में परमार्थ में ध्यान में सच्चाई होनी चाहिए। इसकी परीक्षा होती है, और जैसा ही हेतु होता है, वैसा ही फल प्राप्त होता है। बाह्य जगत की अपेक्षा अन्तर जगत में कुछ कमाने की इच्छा रखनी चाहिए। सिद्धयोग की साधना में त्याग का भी अपना अर्थ है। घर त्यागना, बाल-बच्चे त्यागना, वस्त्र त्यागना या जंगल के एकान्त में जाकर रहना सच्चा त्याग नहीं है। जिसे गुरु कृपा प्राप्त हुई है, उसे "मैं-मेरा" का अभिमान त्यागना, अपने मन को त्यागना तथा शरीर का अभिनिवेश त्यागना चाहिए। इससे समता युक्त ज्ञान का उदय होगा।

चाहे जिस किसी भी मार्ग का कोई अवलम्बन करें, चाहे जितनी प्रकार की उपासना करें, सहज चैतन्यता की उपलब्धि दुष्प्राप्य है। इसे केवल सिद्धमार्ग से ही प्राप्त किया जा सकता है।

नानामार्गैस्तु दुष्प्राप्यं
कैवल्यं परं पदम्।
सिद्धिमार्गेण लभते
नान्यथा पद्मसंभव ॥
—योगशिखोपनिषद्

श्री गुरुदेव शक्तिपात दीक्षा देकर शिष्य के पापों का नाश करके उसे परमात्मा के साथ एकत्व प्राप्त करा देते हैं। जब साधक अपने प्यारे गुरु का पूर्ण स्मरण करते हुए तन्मयता के भाव में ध्यान के लिए आसन पर बैठकर गुरुमन्त्र का पुरश्चरण करता है, तब मन्त्र रूप में श्री गुरुदेव स्वयं उसके अन्तर में क्रियाशील हो उठते हैं। साधक राजयोग, हठयोग, मन्त्रयोग, भक्तियोग के गुह्य क्रियाओं से सिद्ध होता जाता है। चारों योग एकत्र होकर शिष्य में जब क्रियाशील होते हैं, उसी को सिद्धयोग या महायोग कहते हैं, इसे सिद्धमार्ग भी कहते हैं, सिद्धकृपा भी कहते हैं। सिद्ध का शिष्य कभी बद्ध नहीं होता, उसे मोक्ष प्राप्त होना ही है। शीघ्रातिशीघ्र लक्ष्य प्राप्त करने के लिए नियम बद्ध रहना आवश्यक नहीं तो अवश्य ही फल में अपूर्णता के साथ विलम्ब होगा।

सिद्धपथ अनुगामियो ! आप यह मत भूलें कि आपके असंख्य पुरोगामी लोग सिद्धलोक में हैं। परम सिद्ध श्री आदिनाथ से लेकर सन्तादि और असंख्य सिद्ध जो पूर्वकाल से अब तक हो गये हैं वे सब पूर्ण सामर्थ युक्त होकर सिद्धलोक में निवास करते हैं, आप को शक्ति प्रदान करते हैं आप के योग को क्रियाशील करते हैं।

और आप के संरक्षण तथा योग क्षेम वहन करने को तत्पर रहते हैं। आप को यह नहीं

समझना चाहिए कि आप केवल अपने गुरु के ही विद्यार्थी हैं। आप सिद्ध लोक वासी की परम्परा के पूर्ण वंशज हैं। आप अपनी परम्परा को नहीं जानते। जब आप को सिद्धलोक का दर्शन होगा तब आपको अपनी परम्परा का पूरा ज्ञान होगा। अतः आपको अपने पन्थ में, अपने सिद्धमार्ग में, अपने ध्यान योग में, गुरु मन्त्र में, अटल दृढ़ विश्वास होना चाहिए। आप के पीछे सर्वत्र सद्गुरु सिद्धकृपा खड़ी है। ज्योंही आप में पूर्ण भक्ति पूर्णश्रद्धा दृढ़ आस्तिक बुद्धि सर्व समर्पण होगा सिद्धकृपा को देरी नहीं होगी। जब महान सिद्धों की कृपा होती है। तब आप केवल साधन सम्पन्न ही नहीं, मोक्षप्राप्त ही नहीं पूर्ण सिद्ध बन जाते हैं इसके हेतु आपको उठते, बैठते, चलते, फिरते, श्री गुरुदेव प्रदत्त चैतन्य मन्त्र का स्मरण करते रहना चाहिए। आपको हमेशा याद रखना चाहिए कि आपके अन्दर दिव्य महातेजोमय शक्ति मूर्ति मन्त्र हो के निवास करती है। इसलिए आप मत यह सोचो क्या फलेगा? कब फलेगा? कितने अंश में फलेगा?

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि सिंह का बच्चा सिंह ही होता है। यह गुरु वाक्य है, यह गुरु आज्ञा है। तुम्हारा अनन्यतारण नौका गुरु आज्ञा का पालन करना, गुरु उपदेश को हृदय में धरना, गुरु उपदेशित रास्ते पर चलना है। जैसे-जैसे तुम गुरु शासन को गुरु आज्ञा को, गुरु सेवा को अधिक से अधिक श्रद्धा और प्रेम से हृदय में धारोगे उतनी ही पूर्ण फल पाओगे, गुरु की अवहेलना मत करो ऐसा करने से तुम साधन भ्रष्ट और भ्रान्त बन जाओगे। गुरु बन्धुओं से वैर, ईर्ष्या, घृणा वार्तालाप, अन्तर शक्ति को धीरे-धीरे क्षीण कर देगी। संग दोष से बचना चाहिए। गलत चर्चा लोकनिन्दा, अविवेक, घमंड, द्वेष, अपवित्रता, असत्याचरण, सिनेमा, होटल, नाटक, और होटल के अशुचि अन्न जैसी वस्तुओं में रुचि कुसंग से हो जाती है। इनसे सिद्ध विद्यार्थीयों को सर्वदा बचना चाहिए, क्योंकि यह अन्तरशक्ति के वेग को कम करती है। इनको त्यागने से ही साधन सफल होता है।

—✿✿✿—

जैसे चींटी शक्कर और बालू के साथ रहने पर भी बालू को छोड़कर शक्कर खा लेती है, वैसे ही सन्त लोग इस संसार में सद्वस्तु सच्चिदानन्द भगवान का ग्रहण कर लेते हैं और असद्वस्तु कामिनी-कांचन आदि को त्याग देते हैं।

—श्री रामकृष्ण परमहंस

यौगिक प्रश्नोत्तरी

(पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी द्वारा)

आश्रम का शुद्ध वातावरण है। योगाभ्यासी लोग उठ चुके हैं। ब्रह्मचारी लोग अपनी अपनी हठयोग की साधनाओं में नियम पूर्वक लग चुके हैं। आश्रममें ठहरा हुआ गृहस्थ समुदाय भी अपने अपने नित्य कृत्यों से निपट करके श्री गुरुदेव जी की आज्ञानुसार अपने अपने आसन बन्ध मुद्रायें आदि अभ्यास करके जैसा जिसको आदेश था अपने अपने ध्यानाभ्यास में बैठ गया। थोड़ी देर बाद सभी नैत्यिक क्रियाओं से निवृत्ति हो गये। श्री आनन्दकन्द प्रभुजी की आरती, पूजन एवं गीता पाठ आदि के बाद नैत्यिक सत्संग का कार्य प्रारम्भ हो गया। उनमें से एक जिज्ञासु ने आकर प्रश्न किया—

प्रश्न—हे गुरुदेव ! काल के सत्संग में आपने सर्व चित्त वृत्ति निरोध को योग बतलाया था और उसके साथ ही यह भी कहा था कि सूत्र में भगवान पतंजलि देव ने "सर्व" शब्द को ग्रहण नहीं किया इसलिये सम्प्रज्ञात समाधि जिसमें बराबर अनुभूतियें रहा करती हैं वह भी योग ही है। सो आप कृपा करके मुझे सम्प्रज्ञात योग ही समझाइये। वह कितने प्रकार का होता है और साधक निरोध तक कैसे पहुँच पाता है ?

उत्तर—हे पुत्र ! सुनो भगवान पतंजलि देव ने सम्प्रज्ञात समाधि का इस प्रकार वर्णन किया है—

वितर्क विचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः।

अर्थात् वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मितानुगत होने से सम्प्रज्ञात योग के चार भेद हैं जिनका वर्णन व्यास देव श्री महाराज अपने भाष्यमें निम्नांकित पंक्तियों में करते हैं—

वितर्कः = चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः, सूक्ष्मो = विचारः, आनन्दः ह्लादः, एकात्मिका संविद = अस्मिता, तत्र प्रथमश्चतुष्टया नुगतः समाधि स

वितर्क:, द्वितीयो वितर्क विकल: स विचार: तृतीयो विचार विकल: सानन्द: चतुर्थस्तद्विकलोऽस्मिता मात्र इति, सर्व एवं सालम्बना: समाधय: ।

इनमें से वितर्कानुगत समाधि उसको कहते हैं। जिसमें चित्त को ठहराने के लिए स्थूल विषयों का अवलम्ब लिया जाता है। जैसे अग्नि जल वायु, आकाशादि स्थूल महाभूत हैं और विचारानुगत समाधिमें स्थूल महाभूतों सेहोने वाली सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियों से होने वाला साक्षात्कार और आनन्दानुगत समाधि में योगीकी आह्लादात्मिक स्थिति और उसके बाद अस्मितानुगत योग में केवल मात्र अस्मि प्रत्यय का आभास होता है। सम्प्रज्ञात समाधि अन्य और योग के भेदों की स्थितियें योगी को स्वतः ही सिद्ध होती चली जाया करती हैं । बात तो केवल मात्र एक है मनुष्य को अपने अभ्यास से पीछे नहीं हटना चाहिए उसके बाद 'योगिना योग एव उपाध्याया:' अर्थात् योगी का योग ही गुरु बन जाया करता है वैसे वह सर्व शक्तिमान आदि गुरु परमात्मा घट घट वासी अन्तर्यामी एवं प्राणी मात्र का उर प्रेरक है। साधक अपने अभ्यास के द्वारा जिस भूमिका को पार कर जाता है उसके बाद उस परम गुरु परमात्मा की कृपा से उससे आगे की दूसरी भूमिका उसके सामने प्रकट होजाया करती है। पूर्व भूमिका के दृश्य फिर उसके सामने नहीं आते। उदाहरणार्थ एक योगी जब वितर्कानुगत समाधि का अभ्यास करता है और निरन्तर अभ्यास के बल से उस भूमिका में सम्यक्स्थिति हो जाता है तो उसके अभ्यास में स्वतः ही अगली भूमिका के दृश्य आने लगते हैं और पीछे वाली भूमिका के दृश्य आने बन्द हो जाया करते हैं। इसी कारण श्री व्यासदेव जी महाराज ने अपनी पंक्तियोंमें इसका बिल्कुल स्पष्टीकरण कर दिया है। जैसे वितर्क विकल: सविचार: और उसके बाद विचार विकल: सानन्द: अर्थात् जिस समय योगी वितर्कानुगत समाधि में जय प्राप्त कर लेगा तो उसका अभ्यास समाप्त हो जाने के बाद विचारानुगम योग में वितर्कानुगम के दृश्य नहीं आयेंगे और जब द्वितीय श्रेणी विचारानुगम को अपने अभ्यास के बल से जीत लेगा तो स्वतः ही आनन्दानुगत समाधि का आरम्भ हो जावेगा और उसमें दुबारा विचारानुगत के दृश्य नहीं आयेंगे। ठीक इसी प्रकार आनन्दानुगत और अस्मितानुगत की बात भी है ज्यों-ज्यों योगी उच्चतर भूमिकाओं में जगह प्राप्त कर लेता है त्यों-त्यों उसे निम्न श्रेणी की भूमिकाओं के अभ्यास की आवश्यकता नहीं रहती और उस परम गुरु परमात्मा की कृपा से उत्तरोत्तर आगे बढ़ता चला जाता है।

प्रश्न—हे गुरुदेव आप कृपा करके यह बतलाइये कि साधक को यह लेप किस प्रकार

से प्राप्त होता है ? क्या योगाभ्यासी को अपनी शक्ति पर यह सब साधना आधारित है या कोई और भी उपाय है ? मैंने कई जगह पर देखा है कि कितने ही साधकों को तो जन्म लेने मात्र से ही योग ज्ञान हो जाता है और कितने ही ऐसे हैं कि काफी प्रयत्न करने पर भी उनको स्थिति उपलब्ध नहीं हो पाती।

उत्तर—हां पुत्र ऐसा हुआ ही करता है। जो जन्म जन्मान्तर के अभ्यासी हैं चाहे वे अनन्त काल तक स्वर्ग में वास करके आये हों उनको जन्म ग्रहण करते ही अपने जन्म जन्मान्तर के अभ्यास की स्मृति कायम हो जाती है और बिना किसी के प्रयास ही वे लब्ध भूमिक हो जाया करते हैं। भगवान पतंजलिदेव योगदर्शन में स्वयं ही इस बात का स्पष्टीकरण अपने शब्दों में करते हैं—

भव प्रत्ययो विदेह प्रकृति लयानाम्।

अर्थात्—विदेह एवं प्रकृति लीन योगियों को जन्म लेने मात्र से ही योग ज्ञान की प्रतीति हो जाया करती है।

इस सूत्र के अनुसार संसार में जन्म लेने वाले प्राणियों को इस योग की प्रतीति दो ही प्रकार से होती है उनमें पहले प्राणी वे हैं जो अपने जन्म जन्मान्तर के अभ्यास से सम्प्रज्ञात: योग की वितर्क और विचारानुगत समाधि में पूर्णत: प्रविष्ट हो चुके हैं और बाद में अभी निर्बीज समाधि तक नहीं पहुँच पाये थे अभी उन्हें विवेक ख्याति नहीं हुई थी इसी अवस्था में ही उनका देहपात हो गया। ऐसे योगी दो प्रकार के होते हैं (१) विदेह (२) प्रकृति लीन

१-विदेह—

वे कहलाते हैं जो वितर्क समाधि द्वारा स्थूल महाभूतों का और उनके विशेषों का पूर्ण साक्षात्कार कर चुके हैं इसलिये वे शरीर की असलियत को समझकर के देहाभिमान से शून्य हो गये हैं और इतनी साधना के बाद उनका शरीर छूट गया और वे संप्रज्ञात योग की आगे की सीढ़ियों तक नहीं पहुँच सके, अत: वे लोग विदेह कहलाते हैं और देव कोटि में माने जाते हैं।

२-प्रकृति लीन—

वे योगी होते हैं जो स्थूल महाभूतों और उनके गुणों का पूर्ण साक्षात्कार करते हुये निर्विचार समापत्ति में पंच तन्मात्र, अहंकार और महत्तत्व और प्रकृति का साक्षात्कार कर चुके हैं तथा अभी वो प्रकृति के इन सूक्ष्म तत्वों का साक्षात्कार करते हुए इन्हीं में लीन रहे हैं आगे की भूमिकाओं को तय नहीं कर पाये तथा अचानक देहपात हो गया इसलिये यह प्रकृति लीन कहलाते हैं। वे प्राणी भी देव कोटि में गिने जाते हैं इसलिये भगवान व्यास देव जी ने इन लोगों के लिए—

विदेहानां देवानां भव प्रत्ययः तेहि स्वसंस्कार मत्रोपयेन चित्तेन कैवल्य पदमिवानु भवन्तः स्वसंस्कार द्विपाकं तथा जातीय मतीत वाहयन्ति तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृति लीने कैवल्य पदममिवानु भवन्ति यावन्न पुनरावर्त्ततेऽधिकर वशाच्चित्तमिति कैवल्य पदममिवानुभन्ति।

× × × × ×

यह कहकर भगवान व्यास देव जी ने इन्हें मुक्ति पद में तो नही माना किन्तु मोक्ष जैसी स्थिति को ये लोग प्रकृति लीन होते हुये भी भी मोक्ष पद जैसा समझते है क्योंकि अभी इनका ग्रन्थि भेद नहीं हुआ अर्थात् विवेक ख्याति को प्राप्त नहीं हुये। इसलिये इनका चित्त साधिकार है और अधिकार वश इन लोगों का संसार में जन्म होता है क्योंकि पिछले जन्म जन्मान्तरों में इनकी योग में ऊंची प्रगति रही थी इसलिये बहुत लम्बे समय तक ये विदेह प्रकृति लीन रहते हुये भी अपने आप को मुक्त आत्माओं की तरह अनुभव करते रहे थे। बुद्धि के आल्हाद, आमोद प्रमोद आदि विशेष भावों में लीन हुये अपने आपको आनन्द मग्न मोक्ष रूप देखते रहे थे किन्तु विवेकज्ञान के हुये बिना इनका चित्त साधिकार है इस लिये इन्हें संसार में दुबारा जन्म लेना पड़ता है।

जन्म से ही ही पूर्व जन्म जन्मान्तरों में जो अभ्यास किया था उसकी प्रतीति होने लगती है और फिर उस स्थिति को पा करके जल्दी ही अपने पूर्ण लक्ष्य को प्राप्त कर लेते है। इन लोगों की कुछ हानि हुई क्योंकि ये विदेहावस्था व प्रकृतिलीनावस्था में परमानन्द में रहे तथा जन्म लेने पर अनेक जन्मों में किया गया अभ्यास सामने आया और पुनः उसी योग समाधि में प्रवृत्त हो गये। इसी प्रकार का प्रश्न गीता के छठवें अध्याय में भगवान श्री कृष्ण जी से अर्जुन ने किया—

अयतिः श्रद्धयोपेतो,
योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं,
कां गतिं कृष्ण गच्छति।
कच्चिन्नोभयविभ्रष्ट-
श्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो,
विमूढो ब्राह्मणः पथि।
एतन्मे संशयं कृष्ण
छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य
छेत्ता न ह्युपपद्यते।

अर्थात् अर्जुन भगवान श्रीकृष्ण जी से प्रश्न करता है कि हे श्रीकृष्ण जी आस्तिक श्रद्धा

से युक्त है और अपने आप को काबू में नहीं रख सका है और योगाभ्यास करते करते जिस का मन विचलित हो गया है वह योग सिद्धि को न पा करके किस गति को प्राप्त होता है ? कदाचित् उभय भ्रष्ट हो करके फटे हुये बादल की तरह नष्ट भ्रष्ट तो नहीं हो जाता क्योंकि अभी उसने अपने स्वरूप में स्थिति नहीं पाई और ब्रह्म ज्ञान को नहीं पा सका । मेरे इस संशय को नाश करने वाला आपके अतिरिक्त हे श्रीकृष्ण दूसरा कोई नहीं है । इस प्रश्न का उत्तर देते हुये भगवान श्रीकृष्ण जी ने कहा—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते । न हि कल्याण कृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति । प्राप्य पुण्य कृतां लोकानुषित्वा शाश्वती समाः । शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते । अथवा योगिनामेव कुलं भवति धीमताम् । एतद्धि दुर्लभतरं लोकेजन्म यदीदृशम् । तत्र तं बुद्धि संयोग लभते पौर्वदेहिकम् । यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन । पूर्वाभ्यासेन तेनैवह्रियते ह्यवशोऽपि सः । जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्मातिवर्तते ।

प्रयत्नाद्यत मानस्तु योगी
संशुद्ध किल्विषः ।
अनेक जन्म संसिद्धस्त-
तोयाति परां गतिम् ॥

हे अर्जुन ! ऐसे पुण्यात्माओं का इस लोक व परलोक में कहीं भी पतन नहीं होता । कोई भी शुभ कर्म करने वाला दुर्गति को प्राप्त नहीं हो सकता । वे लोग पवित्र पुण्यात्माओं के लोकों को प्राप्त होकर बहुत समय तक वहां रह कर पुनः पवित्र श्री मानों के घर में ही जन्म ग्रहण करते हैं या बुद्धिमान योगियों के घरों में ही जन्म होता है । इस मनुष्य लोक में इस प्रकार का जन्म लेना भी अत्यन्त दुर्लभ है और ऐसा जन्म हो जाने के बाद उन योगियों को अपना पौर्वदैहिक बुद्धि संयोग प्राप्त होता है और पूर्व बुद्धि संयोग को पाकर के वे लोग पुनः सिद्धि के लिये प्रयत्न करते हैं क्योंकि पूर्व जन्म में उन्होंने इस प्रकार का अभ्यास किया था इसी कारण से उनको इस मार्ग में लगना पड़ता है । योग मार्ग का जिज्ञासु भी कर्मकाण्ड के विषय से ऊँचा उठ जाता है और प्रयत्न पूर्वक यत्न करता हुआ अपने सब पापों को धो करके अनेक जन्मों के प्रयत्न से परम गति को पा लेता है । इस प्रकार भगवान पतंजलि की आज्ञानुसार जो लोग सम्प्रज्ञात समाधि में ही किसी प्रकार विफल हो जाते हैं और निर्बीज समाधि को प्राप्त नहीं हो पाते हैं उनको जन्म से ही इस योग की प्रतीति होती और अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं ।

—x—

सद्‌गुरुकृपा का प्रभाव

—श्री त्रियुगीनाथ त्रिपाठी, एम० ए०

घटना १९७६ ई० की है। इस घटना के पहले कभी मैं प्रेत-बाधा में विश्वास नहीं करता था। मेरी श्रीमती गीता त्रिपाठी, जो पं० दशरथ त्रिपाठी की पुत्री हैं, वे अनेक बार सवाई आश्रम में अपने माता-पिता के साथ आ चुकी थीं, व प्रभुजी के स्नेहसिक्त आशीर्वाद को प्राप्त कर चुकी थीं उन्हें, अपने प्रथम नवजात शिशुके सहसा काल-कवलित हो जाने से तीव्र मानसिक आघात पहुँचा इसी वजह से मानसिक रूप में वे काफी उद्विग्नव आवेश में रहने लगी थीं। घरपरिवार के सदस्यभी बहुत चिन्तित हुए। प्रायः यह अपने होश में नहीं रहती थीं। ऐसा लगता था जैसे कोई अदृश्य शक्ति, इन्हें आवेशित कर रही है तथा उसको सजा शून्यता उत्पन्न करा रही है, इस आवेश की स्थिति में उसे कोई सामान्य ज्ञान नहीं रहता था तथा अनापशनाप व्यर्थ की बातें बकती थी, साथही ठीक से नींद भी नहीं आती थी इस परेशानी से ऊबकर उसके पिताजी ने इन्हें गुरुदेवजी की शरण में लाने का विचार किया मुझे भी इनकेसाथ प्रभुजी के दर्शन करने का शुभवसर मिला। हम लोग गुरुदेवजी के ऋषिकेश आश्रम के उत्सव में जा पहुँचे। वहाँ पर एक रात्रि को वह आवेश में परेशान होने लगी पं० दशरथजी गुरुदेवजी के पास पहुँचे उन्होंने कृपा प्रसाद दे दिया।

कुछ आराम हुआ, पर पूर्ण आराम के लिए गुरुदेवजी ने उन्हें सवाई सिद्ध-गुफा जाने के लिए कहा। हम लोग ऋषिकेश उत्सव बिताकर सवाई सिद्ध गुफाआश्रम आपहुँचे, सद्‌गुरुदेव भी ऋषि-केश से पधार चुके थे। गीता प्रभुजी द्वारा बताये मंत्र का जाप कर रही थी, वह जाप में तल्लीन होकर गुफा में बैठ गयी! फिर क्या था जैसे अधिकारी के सामने चोर रहता है, वैसे ही महा प्रभु की तपोभूमि व सिद्ध गुफा में प्रवेश करते ही वह आवेश में डरने व रोने लगी। बहुत जोर-जोर की आवाज में विलाप करने लगी। हम लोग बाहर थे

फिर पं० दशरथ त्रिपाठी के आग्रह पर सद्गुरुजी ने गुफा में प्रवेश किया व प्रेतात्मा को फटकारते हुए उसकी नासिका दबाई, तथा अपूर्व शक्तिपात किया। गुरुदेवजी के इतने प्रयास से वह प्रेतात्मा का (मानसिक क्लेश) बिलकुल ठीक हो गया। गुरुदेवजी ने कहा अब इस मुनिया को कोई परेशानी (मानसिक क्लेश) नहीं होगी। हम लोग आश्चर्यचकित रह गये। आज तक इतना समय बीत गया पर फिर कभी श्री गीता को प्रेतात्मा का आवेश, (मानसिक क्लेश) नहीं हुआ। वह परेशानी प्रभु कृपा सिद्ध गुफा, व सद्गुरुदेवजी की करुणा से हमेशा हमेशाके लिए दूर हो गयी। लोक कल्याण में लिप्त अपने भक्तों पर विशेष कृपा करने वाले, महाप्रभु गुरुदेवजी के श्री चरणों में हार्दिक श्रद्धापूर्वक नमन करते हुए मैं इस घटना पर उनके अमोघ कृपा प्रसादका प्राय: स्मरण कर लिया करता हूँ।

—×—

—सदा-सर्वदा ईश्वर पर निर्भर रहना चाहिये। इससे धीरता, वीरता, गम्भीरता, निर्भयता और आत्म-बल की वृद्धि होती है।

—दया के समान कोई धर्म नहीं, हिंसा के समान कोई पाप नहीं, ब्रह्मचर्य के समान कोई व्रत नहीं, ध्यान के समान कोई साधन नहीं, शांति के समान कोई सुख नहीं, ऋण के समान कोई दुःख नहीं, ज्ञान के समान कोई पवित्र नहीं, ईश्वर के समान कोई इष्ट नहीं, पापी के समान कोई दुष्ट नहीं-ये एक-एक अपने-अपने स्थान पर अपने-अपने विषय में सबसे बढ़कर प्रधान हैं।

—जिसने सत्य, अहिंसा, क्षमा, दया, समता, शांति, सन्तोष, तितिक्षा, त्याग आदि शस्त्र धारण कर रखे हैं, उसका कोई भी शत्रु किञ्चिन्मात्र भी अनिष्ट नहीं कर सकता।

—भगवान् की प्राप्ति के सिवा मनमें किसी भी बात की इच्छा नहीं रखनी चाहिए, क्योंकि कोई भी इच्छा रहेगी तो उसके लिए पुनर्जन्म धारण करना पड़ेगा। इस लिए इच्छा, वासना, कामना, तृष्णा आदि का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

गीता में अवतार-निरूपण

श्री पं० कृष्णकुमार पाण्डेय, गोरखपुर

महर्षि अरविन्द ने अपनी पुस्तक "दिव्य जीवन" और "दिव्य कर्म" के विषय में अवतार के प्रयोजन और महत्त्व के विषय में जो कुछ कहा है, उसका आधार उनके समाधिजन्य अनुभव और गीता के एतत्सम्बन्धी वाक्य हैं। हम संक्षेप में गीता के उन कतिपय वाक्यों पर विचार कर लें जिनमें 'अवतार-पुरुष' के स्वरूप और कर्म की व्याख्या की गयी है। अर्जुन को सांख्य और कर्मयोग के सिद्धान्तों और उन पर आधारित व्यवहारों का ज्ञान दो अध्यायों (२ और ३) में प्रदान करने के बाद भगवान श्रीकृष्ण ने कहा कि यह ज्ञान मैंने सबसे पहले सूर्य को सिखाया था, सूर्य से मनु ने, मनु से इक्ष्वाकु ने इसे सीखा और इसकी परम्परा काफी समय तक चलकर लुप्त प्रायः हो गयी, अब इसे मैंने तुम्हें बताया। इस पर अर्जुन ने प्रश्न किया कि सूर्य तो सनातन देव हैं और आप अभी पैदा हुए हैं इसलिए आप की बात का रहस्य क्या है ? क्या यह भी सम्भव है कि आपने जो इस समय पैदा हुए हैं, सनातन सूर्य को प्राचीन काल में उपदेश दिया ? तब पहली बार भगवान को अपने गुप्त ब्रह्मरूप (निराकार में छिपे नारायण रूप) को अर्जुन के सामने स्वीकार करना पड़ा। फिर भी अपने अवतारी स्वरूप को उन्होंने पहले बड़े कौशल के साथ अर्द्धस्फुरित रूपमें ही व्यक्त किया उन्होंने कहा कि—

'हे अर्जुन, मेरे और तुम्हारे अनेक जन्म हो चुके हैं, मुझे उन जन्मों का ज्ञान है, लेकिन तुम्हें उनका बोध नहीं है।" इस वचन द्वारा उन्होंने अर्जुन को यह संकेत दे दिया कि मेरा जन्म सामान्य जन के जन्म जैसा नहीं है, सामान्य मनुष्य के समान मेरा ज्ञान कभी तिरोहित नहीं होता, मेरे लिए अज्ञान है ही नहीं। इसप्रकार यह संकेत कर दिया कि संसार में जन्म लेने पर प्राणी माया जन्य अज्ञान से ढक जाता है पर मेरा जन्म माया जन्य अंधकार या अज्ञान से मुक्त रहता है। फिर यह सोचकर कि बात अभी पूरी नहीं हुई, उन्होंने अवतार के विषय में कई बातें एक साथ कहकर उपदेश को आगे बढ़ा दिया। उन्होंने कहा—

अजोऽपिसन्नव्ययात्मा

भूतानामीश्वरोपि सन् ।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय

सम्भवाम्यात्ममायया ॥

—गीता

अर्थात् मैं, अव्यय स्वरूप अजन्मा होकर भी तथा सब प्राणियों का ईश्वर होकर भी, अपनी प्रकृति को आधीन करके अपनी माया से प्रकट होता हूँ। इसी उक्ति में 'अवतार' के बारे में कई महत्व पूर्ण संकेत हैं। भगवान कहते हैं कि मैं अव्यय हूँ अर्थात् मेरा नहीं आना-जाना या होना होता ही नहीं, क्योंकि पूर्ण ब्रह्म (अव्यय) का जन्म कहाँ हो, किससे हो ? इस लिए मेरे जन्म लेने की बात झूठ है, अजन्मा हूँ, अर्थात् जन्म रहित हूँ। इसके बाद वे कहते हैं, मैं सभी भूतों का (सांसारिक पदार्थों) ईश्वर हूँ। इसकी ध्वनि है, कि मैं इच्छा मात्र से या संकल्प मात्र से जो चाहूँ कर सकता हूँ। मैं संसार का एक मात्र नियामक हूँ। फिर भी प्रकृति को मैं अपने वश में करके (अर्थात उसके गुणात्मक यन्त्रिका प्रभाव को रोककर) अपनी दिव्य या परा माया से आकार ग्रहण करता हूँ। इसका सम्बन्ध नहीं, वरन माया सम्भव है। सीधे शब्दों में पूरी उक्ति की समग्रता में समझने पर इसका आशय यह बताना हो गया कि मैं पैदा नहीं होता हूँ, वरन जन्म लेता हुआ सा प्रतीत होता हूँ। मेरा शरीर माया निर्मित है। जगत की रचना करने वाली त्रिगुणात्मिका प्रकृति को मैं केवल आधार स्वरूप, आलम्बन स्वरूप (प्रकृति स्वामधिष्ठाये) अपनाकर माया रूप धारण कर लेता हूँ। इसी बात को अध्यात्म रामायण में महामाया सीता जी हनुमान के प्रति स्पष्ट करती हुई कहती हैं—

वत्स, हनुमान तुम राम को साक्षात् अद्वितीय सच्चिदानन्द घन पर ब्रह्म समझो। वे निःसन्देह समस्त उपाधियों से रहित, सत्तामात्र परमात्मा ही हैं। और मुझे संसार की उत्पत्ति स्थिति और अन्त करने वाली मूल प्रकृति (गीता में उपर्युक्त आत्ममाया) जानो। मैं ही निरालस्य होकर इनकी सन्निधि मात्र से इस विश्व की रचना किया करती हूँ। तो भी इनकी सन्निधि मात्र से की हुई मेरी रचना को बुद्धि हीन लोग इनमें आरोपित कर लेते हैं। अतएव अयोध्यापुरी में इनका जन्म लेना, विश्वामित्र की सहायता करना, अहिल्या को शाप मुक्त करना, रावण को युद्ध में मारना, श्री महादेव जी का धनुष तोड़ना इत्यादि समस्त कर्म यद्यपि मेरे ही किये हुये हैं तो भी अज्ञानी लोग उन्हें इन निर्विकार सर्वात्मा भगवान राम में आरोपित करते हैं। ये आनन्द स्वरूप, अविचल और परिणामहीन हैं केवल माया के गुणों से व्याप्त होने के कारण ही ये वैसे प्रतीत होते हैं।

(अध्यात्म रामायण बालकाण्ड १/३२-४३)

यह है अवतारी पुरुष का दिव्य (गुणातीत होकर भी गुणमय प्रतीत होने वाला) रूप। अब गीता में पूर्वोक्त कथन के बाद भगवान श्रीकृष्ण अपने अवतार का हेतु बतलाते हैं—

जिज्ञासा के समाधान में श्रीकृष्ण भगवान कहते हैं कि मुझे अवतार लेकर काम करना इसलिए जरूरी रहता है कि—

यदा यदा हि धर्मस्य
ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य
तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
—गीता, /४/७

परित्राणाय साधूनाम्
विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म संस्थापनार्थाय
संभवामि युगे-युगे ॥
—गीता, /४/८

अर्थात् जब-जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं अवतार रूप का सृजन करता हूँ। मैं युग-युग में सज्जनों की रक्षा और दुष्कर्म करने वालों के विनाश के लिए (अवतार-रूप में) प्रकट होता हूँ।

अवतारी पुरुष अपने स्वरूप को जान बूझकर छिपाये रखता है जिसका संकेत पहले किया जा चुका है। यहाँ पर सन्दर्भ आने पर श्रीकृष्णचन्द्र जी को अपना अवतार बताना पड़ा। लेकिन वे अवतार के जन्म और कर्म की विवेचना सूत्र रूप से, रहस्यपूर्ण ढंग से, ही करके आगे बढ़ जाना चाहते हैं। योग-योगेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र जी महाराज ने बताया कि मेरा दिव्य कर्म यह है कि जब जब दुष्टों का अभ्युदय तथा सत्कर्मियों का पराभव होने लगता है, तब-तब मैं सत्कर्मियों की रक्षा, दुष्टों के विनाश और धर्म संस्थापना के लिए आया करता हूँ। परन्तु अन्तर्यामी और सर्वशक्तिमान होने के कारण वे ये कर्म स्वभावतः अवतार लिए बिना भी कर सकते हैं और नित्य करते रहते हैं, क्योंकि कर्मफल से कोई बच नहीं सकता, यह उनके सृष्टि विधान का नियम है।

दुष्टों के विनाश से जो हो सत्कर्म के अभ्युदय का रास्ता तैयार हो जाता है, तो फिर दुष्टों के नाश के बाद धर्म की संस्थापना का क्या अर्थ है? इस गूढ़ता को भगवान समझाते थे। अतएव उन्होंने उपर्युक्त वचन के बाद कहा—

जन्म कर्म च मे दिव्य-
मेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म
नैति मामेति सोऽर्जुन ॥
—गीता ४/९

अर्थात् अवतारी पुरुष के दिव्य कर्म और दिव्य जन्म को जो जानता है वह मृत्यु के बाद पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होता।

(शेष टाइटिल के पृष्ठ ३ पर पढ़ें)

(पृष्ठ ४८ का शेष)

मम वर्त्मानुवर्तन्ते
मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।
गीता ३/२०

× × × × ×

अर्थात् सभी लोग मेरे द्वारा किये जाने वाले आचरण का अनुकरण करते हैं। हे पार्थ यद्यपि मेरे लिए तीनों लोकों में कुछ भी करने के लिए नहीं है, कोई प्राप्य वस्तु मेरे लिए अप्राप्य नहीं है, फिर भी मैं काम करता हूँ। क्योंकि यदि मैं सावधानी से कर्म न करूँ तो सभी लोग मेरे अनुकरण पर कर्म से विरत होने लगें और यह सब लोक भ्रष्ट हो जाय तब मैं संकर (अनाचार) का कर्ता बन जाऊँ और इस प्रकार प्रजा का नाश कर दूँ। इसलिए अनासक्त विद्वान को भी अज्ञानी लोगों की भांति कर्म करना चाहिए। लोक संग्रह, शिक्षा के लिए ऐसे ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि कर्मों में आसक्ति वाले लोगों की बुद्धि में कर्म के प्रति अश्रद्धा न उत्पन्न करें, वरन स्वयं ब्रह्म-निष्ठ (अनासक्त) रहते हुये कर्म करें और अन्यों से ऐसा कराने की चेष्टा करें। जनक आदि व्यक्तियों ने कर्म से ही सिद्धि प्राप्त की है। इसलिए लोक-संग्रह हेतु कर्म करना मनुष्य का परम धर्म होना चाहिए।

लोक संग्रह (लोक शिक्षा) भी अवतार का एक प्रमुख हेतु है। और यह हेतु सर्वाधिक महत्व का है। दुष्टों का वध तो उस भूमिका का निर्माण है जिस पर चेतना का उत्कर्ष सम्भव होता है। अतः श्रीकृष्ण भगवान यह चाहते हैं कि अवतारी पुरुष लोक में रहकर, सामान्य जनों के बीच उन्हीं में से एक बनकर अपने आचरण से उनके आचरण का और अपनी चेतना से उनकी चेतना का उत्कर्ष करता है। ऊपर कहा जा चुका है कि ब्रह्म-त्रिगुणात्मिका प्रकृति को अपने अधीन करके नाम-रूप धारण करता रहता है। संसार में उसके दबाव के कारण समष्टि-मानव-प्रकृति के गुणों के कार्य मर्यादित हो जाते हैं। और दिव्य चेतना से वातावरण संपृक्त हो जाता है।

× × × × ×

इस प्रकार अवतारी पुरुष अपने युग को अपनी दिव्य चेतना का गुप्त दान देता रहता है और लोगों के भीतर वह चेतना निकलती हुई प्रतीत होती है यह है अवतार का अपरोक्ष प्रभाव।

SIDDHAYOGA—Regd. No. L. AG. 008 July, 1984

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धुका योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा ।

PRINTED MATTER
Book–Post

श्री ....

....

....

....

जीवन का महाभारत

जीवन के महाभारत को कवियों ने अत्यन्त कला पूर्ण ढंग से देवासुर संग्राम के रूप में चित्रित किया है। क्या ब्राह्मणग्रन्थ, क्या उपनिषद् और क्या पुराण सर्वत्र इसका सविस्तार विवेचन किया गया है। ब्राह्मण तथा उपनिषदों में इस युद्ध के धर्म पक्ष को 'देव' और अधर्म पक्ष को 'असुर' कहा गया है और पुराणों में पाण्डव तथा कौरव अथवा राम तथा रावण। तात्विक दृष्टि से देखने पर ये दोनों पक्ष वास्तव में कहीं बाहर न होकर हमारे भीतर हैं। और इनका पारस्परिक संघर्ष हमारे हृदय में बराबर चलता है। प्रेम क्षमा, करुणा आदि दैवी भाव तो कहलाते हैं धर्म और काम क्रोध लोभ आदि आसुरी भाव अधर्म। प्रभु कृपा के अभाव में यह समस्त लोक आसुरी भावों के अधीन रहता हुआ देव लोक में प्रवेश नहीं करता और अपने को ही सर्वेसर्वा मानकर गरजता रहता है। परन्तु जिस महाभाग को प्रभु की यह अहेतुकी कृपा प्राप्त हो जाती है वह इन सब आसुरी-भावों को परास्त करके देवलोक का अधिपति हो जाता है।

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बराई कैसी, ताजगंज, आगरा-१ फोन ६३१६८